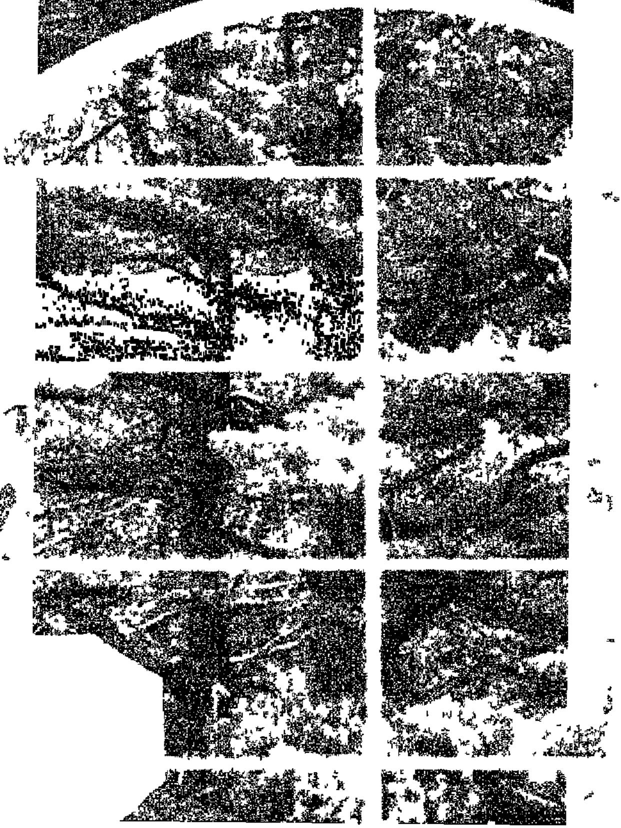
माँ का घर

नीलम कुलश्रेष्ठ



हरा-भरा रहे पृथ्वी का पर्याव

(वि

सामयिक प्रकाशन

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग,

दरियागंज, नई दिल्ली—110002 (भारत)

फोन : (011) 3282733 ● 3270715 ● 3270716

हरा-भरा रहे पृथ्वी का पर्यावरण

नीलम कुलश्रेष्ठ

ISBN : 81-7138-010-7

मूल्य	:	सौ रुपये
प्रकाशक	:	जगदीश भारद्वाज **सामयिक प्रकाशन** 3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागज, नई दिल्ली-110002 (भारत)
संस्करण	:	प्रथम, 2001
सर्वाधिकार	:	नीलम कुलश्रेष्ठ, बड़ोदरा (गुजरात)
कला-पक्ष	:	चेतनदास
शब्द-संयोजक	:	कल्याणी कम्प्यूटर सर्विसेज़ जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-2
मुद्रक	:	अजीत प्रिंटर्स मौजपुर, दिल्ली-110053

HARA-BHARA RAHE PRITHVI KA PARYAVARAN (Science)
by NEELAM KULSHRESTHA Price . Rs 100.00

Published By : **SAMAYIK PRAKASHAN**
3320-21 Jatwara, Netaji Subhash Marg, Daryaganj,
New Delhi - 110002 (INDIA)
Tel. : (011) 328 2733, 327 0715, 327 0716

पृथ्वी के जल, वायु एवं वनस्पति
के संरक्षण का उत्तरदायित्व
मनुष्य पर ही है।

INSONA
1975

इनसोना के इन्हीं उद्देश्यों व इसके
प्रतीक-चिह्न को समर्पित

भूमिका

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विश्व-चेतना जाग्रत हुई कि जिस पृथ्वी पर मनुष्य रह रहा है और उसके पर्यावरण का उपयोग कर रहा है, वह भूमंडल और उसका पर्यावरण उसी के कार्यकलापों से निरंतर प्रदूषित होते जा रहे हैं। तब विश्व के लोगों ने संगठित होकर पर्यावरण के संरक्षण की राहें खोजनी आरंभ कीं। श्रीमती नीलम कुलश्रेष्ठ ने बहुत परिश्रम से पर्यावरण के इन्हीं अंगों का परिचय अपनी इस पुस्तक 'हरा-भरा रहे पृथ्वी का पर्यावरण' में दिया है। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में ही इस पुस्तक में प्रस्तुत ज्ञान पाठक को पृथ्वी का एक जिम्मेदार मनुष्य बनाएगा कि वह किस तरह पर्यावरण को क्षति पहुंचाने वाली अपनी दिनचर्या को अनुशासित करे।

मैं नीलम कुलश्रेष्ठ का आभार प्रकट करता हूं कि वे 'इंटरनेशनल सोसायटी ऑफ नेचुरलिस्ट' (इनसोना) से जुड़े व विश्व के अनेक वैज्ञानिकों द्वारा पर्यावरण-संरक्षण के लिए किए जा रहे अथक श्रम को हिंदी की इस पुस्तक में प्रस्तुत करके इसकी बात करोड़ों भारतवासियों तक पहुंचा रही हैं।

गुणवंत ओझा
(डॉ. गुणवंतराय एम. ओझा)
'इनसोना'
संयुक्त राष्ट्रसंघ पर्यावरण कार्यक्रम
(UNEP) यूनेप
ग्लोबल 500 विजेता

प्रस्तावना

गुजरात की समृद्धि एवं संस्कृति पर विदेश-प्रवास व वहां के संपर्कों ने प्रभाव डाला है इसलिए जीवन के हर क्षेत्र में अनूठा काम हो रहा है। इसका कारण है 'इनसोना' (इंटरनेशनल सोसायटी ऑफ नेचुरलिस्ट— अर्थात् 'इनसोना') जिसे सन् 1975 में डॉ. जी.एम. ओझा ने अफ्रोएशियाई देशो में सर्वप्रथम पर्यावरण-संरक्षण हेतु स्थापित किया था। इनसोना सन् 2000 में पच्चीस वर्ष पूरे कर रही है। 'ए. वूमन बिहाइंड ए सक्सेसफुल मैन'— इस बात को चरितार्थ करती रही उनकी पत्नी श्रीमती प्रेमलता ओझा।

मुझे इन वरिष्ठ दंपती से दस-बारह वर्ष के संपर्क से मिले ज्ञान व स्नेह ने पर्यावरण के प्रति एक नई दृष्टि दी है। अकसर लोगों के लिए पर्यावरण का अर्थ होता है— वन-उपवन यानी कि हरियाली। मैंने अपनी पुस्तक 'हरा-भरा रहे पृथ्वी का पर्यावरण' में इसीलिए पर्यावरण के विभिन्न अंगों को विवेचित कर उनका परिचय देने का प्रयास किया है। मेरी यह पुस्तक यदि पाठक को पर्यावरण के प्रति नई चेतना दे सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगी।

विश्व की अंतरराष्ट्रीय सोच आज पर्यावरण-संरक्षण के लिए कटिबद्ध है। 'इनसोना' की वैज्ञानिक पत्रिका 'एनवायरमेटल एवेयरनेस' से जुडे सभी अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिकों के ज्ञान को थोड़ा-थोडा लेकर आम आदमी के लिए मैंने सरल भाषा में पर्यावरण के रंग भरे हैं।

पर्यावरण-संरक्षण की चेतना कहां तक पहुंची है, इसका एक उदाहरण दे रही हूं : बिलासपुर वनवृत्त में हरे बांसों की सब्जी व अचार बनाए जाते हैं। यहां के वन-विभाग द्वारा कुछ पर्यावरण-संबंधी शिक्षण-

कार्यक्रमों में बताया गया कि 'करील' (हरा बांस) को काटने से पर्यावरण को क्षति पहुंचती है इसलिए इन्हे नहीं काटना चाहिए। मैं अपनी कलम से सुदूर वनवृत्त की उन अपरिचित आदिवासी बहनों का नमन करती हूं जिनके पति 'करील' काटकर घर लाए तो उन्होंने उसे पकाने से इनकार कर दिया!

मैं कलमकार हूं, इसलिए पर्यावरण-संरक्षण में कलम से ही सर्वाधिक योगदान दे सकती हूं।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में 'इनसोना' के संस्थापक डॉ. जी.एम. ओझा तथा इसे अंकित करने के लिए एम.एल. विश्वकर्मा का सर्वाधिक सहयोग मिला है, उनके प्रति आभार।

पांडुलिपि को पूरा आकार देने में मेरे पति श्री मृदुल कुमार कुलश्रेष्ठ तथा मेरे दोनों बेटों अभिनय व सुलभ (बुलु एवं शुलु) का जो सहयोग मिला है, वही मेरा संबल है। अपरोक्ष रूप से भी जिनका सहयोग मिला है, उन्हें भी धन्यवाद।

गांधीजी के प्रदेश में उन्हीं की जन्मतिथि पर याद दिलाते हुए निवेदन है कि अहिंसा का पाठ मनुष्य के प्रति ही नहीं, पर्यावरण के प्रति भी आवश्यक है।

वडोदरा

—नीलम कुलश्रेष्ठ

अनुक्रम

हरा-भरा रहे पृथ्वी का पर्यावरण

नीलम कुलश्रेष्ठ

1

पर्यावरण : एक परिचय

कभी आपने किसी हरे-भरे सूने पहाड़ पर चढकर सैकड़ों फीट नीचे गिरने वाले झरने के संगीत को आंखें बंद करके आत्मसात किया है? सच मानिए यदि कभी आप ऐसा करेंगे तो शहर की अपनी दौड़ती-भागती जिंदगी में, जब आपका स्नायुतंत्र तनाव से ग्रस्त होगा, उसी पहाड़ के हरे पेड़-पौधे, वो ठंडी हवा के थपेड़े, वो मधुर संगीत के आरोह-अवरोह आपकी आत्मा को सहलाते हुए आपको तनावमुक्त कर जाएंगे।

यही है पर्यावरण का एक अंश जो आपके शरीर को ऊर्जा भी देता है और मन को नयनाभिराम दृश्य एवं आत्मा को अनिर्वचनीय शांति।

प्राचीन समय की एक कथा है--एक आश्रम के गुरु के पास दो राजकुमार पढते थे। गुरु ने उनसे पूछा, "तुम्हारे महल में अनाज कहां से आता है?"

प्रथम राजकुमार बोला, "रसोई से।"

दूसरा बोला, "हट! रसोई से कहां आता है, अनाज तो गोदामों से आता है।"

आज के युग में शिक्षा ने इस कथा के अर्थ बदल दिए हैं। आज छोटा से छोटा बच्चा भी यह जानता है कि अनाज कहां से आता है; फर्नीचर कैसे बनता है, ध्वनि-प्रदूषण रोकने के लिए ही हवाई अड्डे के पास पेड लगाए जाते हैं, प्रदूषण (पाल्यूशन) क्या होता है आदि। कितनी अजीब बात है, मनुष्य अपने को पृथ्वी का बादशाह समझता है लेकिन वह जिंदा भी न रह पाता, यदि पहाड़ उदार होकर पानी की धारा नहीं बहाते; यदि

पेड़-पौधों की हरी पत्तियां, सूर्य के प्रकाश, जल एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड की उपस्थिति में भोजन नहीं बनातीं— यानी फोटो सिथेसिस नहीं करतीं— तो ऑक्सीजन कहां से बनती? मनुष्य हवा की ऑक्सीजन अंदर लेकर अपना रक्त कैसे साफ करता? कैसे सांस लेता?

यदि पृथ्वी पर छोटे-छोटे फुदकते खरगोश, पेडों पर सरपट दौडती गिलहरियां, गाती हुई कोयल व चिड़ियां, कांव-कांव करते कौए तथा अन्य पशु-पक्षी न होते तो मनुष्य निपट सुनसान पृथ्वी पर क्या करता? मनुष्य स्वयं पृथ्वी की लगभग तीस लाख प्राणी-प्रजातियों में से एक है।

एक बेहद नन्हा प्राणी—सूक्ष्मजीवी बैक्टीरिया— भी जमीन के अंदर मनुष्य के लिए उपजाऊ मिट्टी बनाने के लिए 'नाइट्रोजन फिक्सेशन' का काम करता है। यदि ये सूक्ष्मजीवी न होते तो लाशों को कौन विघटित कर मिट्टी में मिला देता? तब मनुष्य का लाशों से पटी इस धरती पर रहना दूभर हो जाता। पृथ्वी के अंदर निरंतर भू-रासायनिक चक्र चलते रहते हैं जिसमें ये सूक्ष्मजीवी भी एक अहम भूमिका निबाहते हैं। अपने जल-चक्र, कार्बन-चक्र, नाइट्रोजन-चक्र, खनिज-चक्र द्वारा प्रकृति पौधों, जानवरों एवं मनुष्यों के बीच संतुलित संबंध बनाए रखती है।

इन चक्रों द्वारा नियोजित जलवायु में बदलाव का कारण भी मनुष्य स्वयं ही है। 'फासिल फ्यूइल' को जलाने के कारण वातावरण में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ गई है। यह वातावरण में एक लाख में से लगभग दो सौ साठ भाग होती थी, अब यह तीन सौ साठ भाग हो गई है। क्लोरोफ्लोरो कार्बन की वातावरण में अधिकता पृथ्वी के उस आवरण (ओजोन परत) को कमजोर कर रही है, जो पृथ्वी को सूर्य की हानिकारक किरणों से बचाता है। पृथ्वी के पर्यावरण को दूषित कर रहे हैं फैक्टरियों के बाहर जमा हो गए रसायनिक कचरों के ढेर या मिट्टी में गाड़ दी गई पोलीथीन की थैलियों के ढेर।

प्रकृति की व्यवस्था ऐसी है कि निरंतर एक भोजन-शृंखला या एक 'फूड लैब' (भोजन-संयंत्र) चलता ही रहता है। मेढक कीड़ों को खाता है, सांप मेढक व चूहों को, बिल्ली चूहों को खाती है तो कुत्ते उसे ही खाते

जाते हैं। यदि शेर-चीते हिरण को न खाते तो मनुष्य कभी खेती नहीं कर पाता। हाथी यदि मांसाहारी होते तो उनका पेट भरते-भरते पृथ्वी जानवर-रहित हो जाती, इसलिए हाथी जैसे कई जानवर मात्र वनस्पति खाते हैं।

भारत उन देशों में से है जहां वनस्पति व प्राणियों की अनेक जातियां पाई जाती हैं, क्योंकि इसका समुद्री किनारा 7516 किलो मीटर है। यहां सागर, झील, नदियां, हिमालय पर्वत व अन्य पर्वत-शृंखलाएं हैं। राजस्थान के रेगिस्तान, पठार तथा द्वीपसमूह—अंडमान निकोबार, लक्षदीप इत्यादि की विविधताएं हैं।

विश्व की बढती हुई जनसंख्या, पानी की कमी, ओजोन परत में छेद के कारण बदलते हुए मौसम, कटते हुए जंगल से नष्ट होती प्राणियों की जातियां, बढ़ती हुई बीमारियां कुछ ऐसे मुख्य कारण हैं कि दुनिया-भर के वैज्ञानिक आने वाली पीढियों के लिए चिंतित हो उठे। सबसे पहले 'वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन' (आई.यू.सी.एन.) का गठन हुआ जिसने सन् 1998 में अपने पचास वर्ष पूरे किए हैं।

सन् 1962 में स्टॉकहोम में पहली बार मानवीय पर्यावरण पर एक सम्मेलन हुआ। श्रीमती इंदिरा गांधी ने वहां प्रश्न किया था : "प्रदूषण का क्या गरीबी ही एक बड़ा कारण नहीं है?" जब तक हम आदिवासयों को काम में आने वाली प्रतिदिन की चीजें मुहैया नहीं करवाएंगे तब तक उनसे जंगल के जानवरों व लकड़ी को कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है? हम कह सकते हैं—बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिकों ने संगठित होकर पर्यावरण-संरक्षण के लिए विश्व-स्तर पर काम आरंभ किया।

सन् 1992 में पर्यावरण व विकास पर 'रियो डि जिनेरो अर्थ समिट' हुई जो कि 'यूनाइटेड नेशंस एनवायरमेंटल प्रोग्राम' (यूनेप) में इकट्ठे किए हुए आंकडों पर आधारित थी या कह सकते हैं, इस काम के लिए 'यूनेप' ने केंद्रीय भूमिका अदा की।

इन सबसे प्रेरित होकर भारत में भी एक अभूतपूर्व घटना घटी। वडोदरा (गुजरात) के महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के तात्कालिक प्राध्यापक (अब वनस्पति विभाग के रिटायर्ड प्रोफेसर) डॉ. जी.एम. ओझा

ने पर्यावरण-सरक्षण हेतु सन् 1975 में एक संस्था स्थापित की—'इनसोना' (इंटरनेशनल सोसायटी ऑफ नेचुरलिस्ट)। इनका दाहिना हाथ बनीं विज्ञान स्नातक पत्नी श्रीमती प्रेमलता ओझा। इन्होंने सन् 1977 में एक क्वार्टर्ली जर्नल निकाला—'एनवायरमेंटल एवेयरनेस।' आज हम लोग गर्व से कह सकते हैं कि अफ्रो-एशियाई देशों में पर्यावरण-जागरूकता लाने के लिए प्रकाशित होने वाली यह अपनी तरह की प्रथम विज्ञान पत्रिका है। इसकी मैनेजिंग एडीटर हैं श्रीमती ओझा और संपादकीय सलाहकार हैं दुनिया-भर के सुप्रसिद्ध तैंतीस वैज्ञानिक।

अब तो अपने भारत में ही पर्यावरण-चिंता से जुडी पद्रह सौ से अठारह सौ संस्थाएं हैं। यह बात और है कि उनमें से कितनी प्रतिबद्ध हैं।

आज भारत में घर-घर में 'पर्यावरण' शब्द प्रचलित है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि गुजराती भाषी डॉ. जी.एम. ओझा ने ही बाइस-तेईस वर्ष पहले 'एनवायरमेंट' के लिए 'पर्यावरण' शब्द प्रयुक्त किया था। तब लोगों ने विरोध भी किया कि आप वातावरण के संरक्षण के लिए आम आदमी में जागृति लाना चाहते हैं और यह कठिन शब्द 'पर्यावरण' लोगों की जिह्वा पर नहीं चढ़ेगा, लेकिन इस दंपती के ही प्रयास का फल है कि आज बच्चा-बच्चा 'पर्यावरण' शब्द से परिचित है।

इनसोना ने ही सन् 1977 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी से पत्र व्यवहार किया था कि एक पर्यावरण मंत्रालय आरंभ किया जाए! इंदिरा गांधी ने इस प्रस्ताव के आधार पर पर्यावरण विभाग जरूर खोल दिया था। इसी की अगली कड़ी बना बाद में पर्यावरण मंत्रालय।

पर्यावरण-संरक्षण के लिए अब तो लगभग पूरी दुनिया जागरूक हो गई है। छब्बीस-सत्ताइस वर्ष पहले हुए अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में जहां मुश्किल से दस देश इकट्ठे हुए थे, आज लगभग डेढ़ सौ देशों के अपने पर्यावरण मंत्रालय हैं या विभाग हैं। इनके सिरदर्द का प्रमुख कारण है ओजोन परत का छेद बड़े होते जाने की समस्या।

अब रही बात अंतरराष्ट्रीय नियमों की। सन् 1950 से केवल 6 पर्यावरण-संधियां थीं। सन् 1960 तक उनकी संख्या बढ़कर 52 हो गई।

सन् 1988 मे यह 140 हो गई। मौसम मे बदलाव तथा जैविक विविधता के संरक्षण के लिए 150 देशों ने अलग से संधि की।

इन सब तथ्यों को देखते हुए हमें इसकी गंभीरता को समझ लेना चाहिए। जमीन का सीना तोड़कर उगते अनाज, फल, सब्जियों की मेहरबानी पर ही मनुष्य का जीवन टिका हुआ है। कुछ घंटे पानी न मिले तो मनुष्य तडफड़ाने लगता है। यदि सच कहा जाए तो सरसराती हवा, कल-कल करती नदियां व झूमते हुए पेड़-पौधों व जानवरो का मनुष्य मेहमान है। यदि मनुष्य इस पृथ्वी पर नहीं होगा तो ये पृथ्वी ऐसी की ऐसी ही रहेगी, हां, इन चीजों से रहित यानी कि पर्यावरण से रहित पृथ्वी पर मनुष्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसी पर्यावरण को प्रदूषित किया है फैक्टरियों से निकलने वाले प्रदूषित धुएं व प्रदूषित द्रव ने। रसायन फैक्टरियों से निकलकर मिट्टी में जाते है, फिर सब्जियो व अनाज के हिस्से बनकर पेट में पहुंचते हैं। इनके विषय में बता रहे हैं सूक्ष्मजीवी-विशेषज्ञ डॉ. वी.वी मोदी :

- कुछ कार्सीनोजेनिक रसायनों से कोशिकाएं जल्दी-जल्दी बनने लगती हैं जिनसे कैंसर होने की संभावना रहती है।
- कुछ रसायन 'क्यूटोजेनिक क्यूटेंट' होते हैं जो कि शरीर के हीमोग्लोबिन को कम करने लगते हैं। साथ ही शरीर की कोशिकाओं में पाए जाने वाले जीन्स में बदलाव आने लगता है। त्वचा की मेलामाइन में भी बदलाव आने लगता है। इस बदलाव से कोई मरता तो नहीं है किंतु उसकी चुस्ती में फर्क आने लगता है।
- कुछ टेट्रोजेनिक रसायन—जो कि कुछ दवाइयों में भी पाए जाते हैं—यदि पेट में पहुंच जाएं तो प्रसव-काल में बच्चों का अंग-भंग होने की संभावना रहती है। सन् 1960 में 'शैलीडोमाइन' नाम का एक 'ट्रेन्क्वीलाइजर' बनाया गया था, जिसने यह प्रभाव डाला था।

गेहूं व अन्य अनाज और सब्जियों को आग पर पकाने से उनके हानिकारक रसायन किसी हद तक नष्ट हो जाते हैं। वनस्पतियों पर कुछ

पेस्टीसाइड का छिड़काव होता है। गाय-भैंस वह वनस्पति खा जाती हैं। इन पेस्टीसाइड की अधिक मात्रा दूध द्वारा यदि पेट में पहुंचे तो नुकसान करती है, वरना दूध अपने-आपमें बहुत पौष्टिक होता है।

पर्यावरण की सुरक्षा हो व औद्योगिक क्षेत्रों पर नियंत्रण रहे, इसलिए सरकार ने प्रदूषण-नियंत्रण विभाग खोले हैं। सरकार के निर्देशन पर ही फैक्टरियों मे 'प्योरीफिकेशन प्लांट' लगाए गए है जिससे प्रदूपित द्रव इनसे शुद्ध होकर ही बाहर जाए। किंतु इन विभागो को भी प्रदूषित कर देते है इनके अधिकारी। फैक्टरी-निरीक्षण के समय गलत रिपोर्ट लिखने के लिए रिश्वत लेकर ये रिपोर्ट लिख देते हैं कि फैक्टरी कोई प्रदूषण नहीं फैला रही है!

समाचार-पत्रों में अकसर फैक्टरियों पर तालाबंदी की सूचना रहती है। वह इसी विभाग के ईमानदार कर्मचारियों की तत्परता के कारण होती है। स्थानीय विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग व जीव-विज्ञान विभाग भी औद्योगिक क्षेत्र में जाकर की गई अपनी शोध-रिपोर्ट इस विभाग को भेजते रहते हैं।

यदि गुजरात का उदाहरण लिया जाए तो उसके औद्योगिक क्षेत्र की फैक्टरियो के 'प्योरीफिकेशन प्लांट' से निकला कचरा एक नहर द्वारा इकट्ठा कर उसे खंभात की खाड़ी में फिंकवा दिया जाता है। अनजाने में किसान कचरों वाली इस नहर से नालियां खोदकर इस प्रदूषित पानी से अपने खेतों की सिंचाई करने लगे तो उन्हें रोका गया।

नदियां भी तट पर जलती लाशों या मृत बच्चों के शरीर-विसर्जन से प्रदूषित होती रहती हैं। इसके अलावा भी उसे प्रदूषित करने वाले अनेक कारण हैं। गंगा को हिंदू पवित्र नदी मानते हैं। इसका पानी वर्षों तक रखा रहे तो सडता नहीं है। हिंदू आस्था इसीलिए पूजा में इसका प्रयोग करती है। गंगा के पानी को एक प्रकार के बैक्टीरिया सड़ने नहीं देते। यह भी पर्यावरण या भगवान का ही एक चमत्कार है। गंगा की सफाई का अभियान तत्कालीन प्रधानमंत्री (स्व.) राजीव गांधी ने आरंभ किया था। इसी तरह के सफाई-अभियान की आवश्यकता भारत की अन्य नदियों के लिए भी है।

विश्व-पर्यावरण में हुई उथल-पुथल ने अलग-अलग राष्ट्रों की सरकारों को सन् 1990 में एक पेनल में बांध दिया था। आपसी विचार-विमर्श से यही नतीजा निकला कि वातावरण में 'ग्रीन हाउस' नाम की गैस बढकर एक जगह इकट्ठी होने से विश्व में गरमी बढ़ रही है। इन गैसों को इकट्ठी होने के लिए पचास प्रतिशत प्रोत्साहित कर रही है फैक्टरियों के धुए से निकलती कार्बन डाइ-ऑक्साइड। सन् 1950 में 2.4 अरब टन कार्बन डाइ-ऑक्साइड वातावरण में बढी थी। वहीं 1985 में यह 6 8 अरब टन हो गई। अब तो प्रतिवर्ष कार्बन डाइ-ऑक्साइड 3.1 प्रतिशत बढती ही जा रही है।

विश्व की जनसंख्या जो कि प्रति वर्ष 1.9 प्रतिशत बढ रही है, वह भी कार्बन डाइ-ऑक्साइड वातावरण में बढा रही है जो कि 1.2 प्रतिशत है। बढ़ती हुई जनसंख्या दो तिहाई कार्बन डाइ-ऑक्साइड वातावरण में बढाने की जिम्मेदार है। भारत जनसंख्या-वृद्धि में अग्रणी है। एक अनुमान के अनुसार, विश्व के हर छः व्यक्तियों मे से एक भारतीय है!

विश्व में बढ़ती हुई गरमी का प्रभाव वर्षा पर भी पड़ रहा है। पहले की अपेक्षा बरसात एक तिहाई कम हो रही है जिसका सीधा असर कृषि पर पड़ता है। इसका दुष्परिणाम भुगतते हैं विकासशील देश, जिनके पास बड़े पैमाने पर अनाज-भंडार नहीं होते। दक्षिण अफ्रीका, भारतीय उप-महाद्वीप, पूर्व ब्राजील तथा मैक्सिको इस बढ़ती हुई गरमी के सबसे बड़े शिकार हैं।

विकसित देश अमेरिका, यूरोप और आस्ट्रेलिया तो विश्व का 4.3 प्रतिशत अन्न-उत्पादन करते हैं। उनके लिए समस्या इतनी गंभीर नहीं है फिर भी वहां शोध चल रहे हैं कि वातावरण में से कैसे कार्बन डाइ-ऑक्साइड कम की जाए।

पृथ्वी के पर्यावरण की चिंता का दूसरा विषय है—जीवमंडल की रक्षा करने वाली ओजोन परत का पतला होते जाना। इसके परिणामस्वरूप मानव-स्वास्थ्य, कृषि तथा समुद्री पर्यावरण के लिए खतरा खड़ा हो गया है। ओजोन की पतली परत को भेदती हुई सूरज की पराबैंगनी किरणें

(अल्ट्रावॉयलेट रेज) जरूरत से कहीं अधिक पृथ्वी पर आ रही हैं। इस कारण कैंसर रोग व आंखों के मोतियाबिंद रोग म वृद्धि हो रही है। रेफ्रिजरेटर व एयरकंडीशनर को चलाने के लिए एक रसायन सी एफ सी.एस का प्रयोग होता है, जिसका सन् 2000 में 29 प्रतिशत से अधिक उत्पादन होने की संभावना है। यही रसायन ओजोन परत की गड़बडी का प्रमुख जिम्मेदार है।

मनुष्य प्रकृति के सामने तुच्छ है। सिंधु-घाटी सभ्यता इस बात का प्रमाण है। हिमालय से लेकर पंजाब-गुजरात तक मिले उसके अवशेष इस बात का प्रमाण हैं कि सभ्यता चाहे कृष्ण की सोने की द्वारका जैसी समृद्ध ही क्यों न हो, यदि प्रकृति चाहे तो उसे एक पल में मिटा सकती है— अपना प्राकृतिक संतुलन कायम रखने के लिए।

यदि हमें प्रकृति का यह संतुलन कायम रखना है एवं पर्यावरण-संरक्षण करना है तो सबसे पहले अपने ही घर मे पानी, बिजली तथा कुकिंग गैस की बचत करें। इनके महत्त्व को देखते हुए इन्हें राष्ट्रीय संपत्ति घोषित किया गया है।

मनुष्य की प्रकृति के प्रति बहुत तरह की नासमझी को अवलोकन कर सन् 1999 में 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' घोषित किया गया था। इसका विषय रखा गया—'हमारी पृथ्वी, हमारा भविष्य—उसे बचाइए।' अब विश्व के समस्त वैज्ञानिक आम आदमी को यही शिक्षा दे रहे हैं कि प्रत्येक दिन को वह 'पर्यावरण दिवस' व 'जीवमंडल दिवस' समझकर इसके संरक्षण के लिए कुछ न कुछ करें।

वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन (आई.यू.सी.एन) के इस मूलभूत सिद्धांत को प्रकृति व प्राकृतिक संपदा का आदर करते हुए सीधे मानवीय संवेदनाओं के अंतर्बोध से जोडा गया है कि यह आदर हमें अपनी जाति, परिवार व आर्थिक संपदा का भी आदर करना सिखाएगा। यही पर्यावरण और मानवीय सभ्यता से मनुष्य का सामंजस्य है। इनसोना का भी यही नारा है : 'आज को संरक्षित कर, कल की रक्षा करो।'

भारत की सांस्कृतिक धरोहर ही पर्यावरण-संरक्षण से जुड़ी हुई है

अथर्ववेद में 63 श्लोक वाला 'भूमि सूक्तम्' है। संपूर्ण विश्व के प्राचीन साहित्य में मनुष्य व पर्यावरण के रिश्ते का इतना सुंदर चित्रण देखने को नही मिलेगा। हमारी परांपरा मे नदी व वृक्षों की पूजा की जाती रही है। हमारे भारतीय परिवारो मे पहली रोटी गाय के लिए व अंतिम रोटी कुत्ते के लिए बनाने का प्रचलन है, जिससे अपने वर के आसपास घूमते हुए ये जीव भूखे न रहें। सब्जी व फलों के छिलके भी इन्हीं पशुओं को डाले जाते है। बहुत-सी एंटीबॉयोटिक औषधियो से युक्त तुलसी का पौधा आंगन मे रखने एवं उसे पूजने का चलन भी भारतीय परिवारों में है।

पहले शिक्षाविद् व वैज्ञानिक यही समझते थे कि पर्यावरण की शिक्षा विद्यालयों-विश्वविद्यालयों में देने से ही लोगों मे पर्यावरण के प्रति जागरूकता आएगी, लेकिन जल्दी ही यह भ्रम टूटने लगा। सबने यही सोचा कि जब तक लोगों की जीवन-शैली एवं गतिविधियों में बदलाव नहीं लाया जाएगा, तब तक पर्यावरण सुरक्षित नहीं रह सकता। इस काम के लिए कुछ गैर सरकारी संस्थाएं (एन जी.ओ) आगे आई व कुछ लेखकों ने पर्यावरण पर पुस्तकें लिखीं। पहले अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन—जो कि स्टॉक होम में सन् 1962 में हुआ था—से लेकर न्यूयार्क में हुए सन् 1997 के सम्मेलन तक यही पाया गया कि जितनी तेजी से सरकारों ने नीतियां बनाई थीं, उतनी तेजी से उन्हें लागू नहीं किया गया।

सन् 1980 मे 'वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन' ने 'वर्ल्ड कंजरवेशन स्ट्रेटिजी' (डब्ल्यू सी.एस.) बनाई, जिसमें तीन सिद्धांत प्रतिपादित किए।

- पारिस्थितिकी जीवन (इकोलॉजिकल लाइफ) की सही सार-संभाल की जाए। (उपग्रहों द्वारा पृथ्वी के विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन किया जाए।)
- जैविक विविधता का संरक्षण किया जाए, जिसके केंद्र में संरक्षण-विशेषज्ञ परंपरागत तरीकों को भी जीवित रखें व उपग्रह के शोध की मदद लेते हुए प्राणियों की जातियों पर हुए बदलावों पर अपनी नजर रखें।
- ऐसे प्राकृतिक स्रोत, जिनका किसी भी रूप में नवीनीकरण किया ज

सकता है, उन्हें सुरक्षित रखें, विशेषकर ऐसे क्षेत्रों में जहां के लोग अपने लिए, अपने परिवारों के लिए, उन्हें सुरक्षित रखने में असमर्थ हों।

वैज्ञानिकों के प्रयासों ने इन तीस वर्षो में मनोवैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों आदि का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। अब सभी मिल-जुलकर संरक्षण के नए-नए रास्ते खोजना चाहते हैं जो कि पवित्र उद्देश्यो वाले हों, जागरूक हों, मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार हों और हर क्षेत्र का संरक्षित क्षेत्र की तरह उपयोग करें। कुछ देश अब तक टापुओं में बसे लोगों तथा वहां के पर्यावरण की उपेक्षा करते आए थे; अब उन्हे समझ में आया है कि वे टापू भी उनके देश के समस्त पर्यावरण का हिस्सा हैं।

'यूनाइटेड नेशनल एनवायरमेंटल प्रोग्राम' (यूनेप) के अनुसार, सभी विकसित देशों ने 'परसिस्टेंट ऑर्गेनिक पोल्यूटेंट' (पी.ओ.पी.एस.) को एकमत होकर मानवीय स्वास्थ्य के लिए हानिकारक माना है। इनमें अधिकतर विषैले रसायन हैं जो कि मनुष्य को कैंसर से ग्रस्त कर सकते हैं। वे स्नायुतंत्र के केंद्रीय या किनारे के हिस्से को मृतप्राय करते चले जाते हैं। मनुष्य की प्रजनन-शक्ति पर प्रभाव डालते हैं। बच्चों के विकास को कम करते हैं। इन रसायनों को मनुष्य एवं जानवर के चर्बी के टिश्यू अपने में संग्रहीत कर लेते हैं जो बाद में नुकसान पहुंचाते हैं। इनमें कुछ 'पेस्टीसाइड' हैं तथा कुछ औद्योगिक रसायन हैं। सन् 1997 में यूनेफ ने अलग-अलग देशों में आठ क्षेत्रीय कार्यशालाएं इन्हीं की भयावहता बताते हुए आयोजित कीं और एक ग्लोबल संधि पर बातचीत भी आरंभ हुई जो कि सन् 2000 में पूरी हो जाएगी।

इस संधि के अंतर्गत उक्त विषैले रसायनों के कम से कम उपयोग के बारे में तथ्य व इन्हें फैक्टरियों के धुएं से निकलने की रोकथाम के रास्ते खोजे जा रहे हैं। इस संधि में बारह रसायन शामिल हैं, जैसे— एल्ड्रिन, क्लोरडेन, डी.डी.टी. इत्यादि। इनके स्थान पर काम आने वाले ऐसे रसायनों की खोज की जाएगी जो पर्यावरण को क्षति नहीं पहुंचाते हों।

अमेरिका के रक्षा व शिक्षा विभाग से संबंधित श्री ऑर्थर एस वेस्टिंग

के अनुसार : ''पर्यावरण को घोर क्षति पहुंचाते हैं मानव युद्ध। मानव की यह स्वभावगत आदत है जिससे पूरे विश्व में कहीं न कहीं दर्जनो युद्ध चलते ही रहते हैं। इनका परिणाम होता है—पर्यावरण-संबंधी तत्त्वों एव नैतिक मूल्यो का विध्वंस हो जाना। युद्ध-स्थल को उस देश की सरकार तथा रेडक्रॉस सोसायटी सहायता पहुंचाती हैं और वैज्ञानिक जुट जाते है—इस क्षति का अध्ययन करने में और स्थिति को संवारने मे।''

सन् 1979 में बौद्ध धर्म के गुरु दलाई लामा ने एक इटरव्यू मे आवाहन किया था कि मनुष्य परस्पर ही नहीं, जीवन के दूसरे रूपो का सम्मान करना भी सीखें व उनके प्रति उत्तरदायित्व महसूस करें। वैसे तो बौद्ध धर्म का पहला सूत्र यही है कि जीवों पर दया करो, फिर भी दलाई लामा के आवाहन पर सन् 1985 में 'बुद्धिस्ट परसेप्शन आफ द नेचर' का गठन हुआ। ढाई हजार वर्ष से वैसे तो बौद्ध धर्म का प्रचार होता ही रहा है, लेकिन विश्वविख्यात प्रकृतिविद् पीटर स्कॉट ने इस प्रोजेक्ट को आरभ करने में पहल की। उन्होंने एक पुस्तक लिखी—'ट्री आफ लाइफ', जिसमें यही बताया गया है कि पेड़ों के संरक्षण की शीघ्र आवश्यकता है। ताइवा के जीव-विज्ञान-विशेषज्ञ डॉ. जार्ज बी. शैलर ने भी इसका समर्थन किया।

थाईलैंड के बौद्ध साधु तो वृक्षों व जीवों की रक्षा करते ही रहते थे। तिब्बत का पर्यावरण पचास वर्ष पूर्व तक बहुत संतुलित था, जब तक चीन की वहां दखलंदाजी नहीं हुई थी। थाईलैंड में 35,000 बौद्ध मंदिर हैं। वहां पर्यावरण की रक्षा का आवाहन करने के अनेक रास्ते खोजे गए हैं तथा पुस्तकें भी लिखी गईं। उन्हीं में से एक है 'ए क्राई फ्राम द फॉरेस्ट' जो अग्रेजी एवं थाई भाषा में प्रकाशित हुई है।

इनसोना ने जो स्टिकर वितरण का अभियान चलाया था, उसमें से एक वृक्ष में श्रीकृष्ण का वास दिखाया है—भारत के लोग धर्म के रास्ते से ही प्रभावित होकर वृक्ष न काटें!

संपूर्ण ब्रह्मांड में असंख्य ग्रह-उपग्रह एवं आकाशगंगाओ के बीच पृथ्वी के जीवमंडल में ही मानव-जीवन पाया गया है। यह सोचकर भी रोमांच होता है कि हम इस दुर्लभ जीवमंडल के एक चेतन प्राणी हैं। एक

सूचना के अनुसार, किसी अनपहचाने ग्रह से अनपहचानी जीवन-तरंगें मिल रही हैं। हमारे समक्ष तो पहले हमारा जीवमंडल है, हमारी जीवन-तरंगे है जो संरक्षण चाह रही हैं। तभी इनसोना के प्रतीक-चिह्न मे दर्शाया गया है कि मनुष्य के ऊपर पानी, वनस्पति, हवा एवं जीवमंडल के संरक्षण का भार है।

पद्मविभूषण वैज्ञानिक श्री एम.एस. स्वामीनाथन कहना है : "जब तक पर्यावरण के प्रति लोगों के नजरिये में क्रांतिकारी परिवर्तन नही आएगा, तब तक पर्यावरण-सरक्षण के लिए किए जा रहे सारे प्रयास बेकार है। आधुनिक सचार के साधन, राजनीतिक व्यवस्था एवं हमारा मास मीडिया ही इतने सक्षम हैं, जो इस क्रांति को ला सकें।"

भारतीय संस्कृति में जिस 'वसुधैवकुटुंबकम्' की कल्पना की गई है, प्रकृति व पृथ्वी उसके सजीव प्रमाण हैं।

2

जीवमंडल : एक परिचय

जिस पर्यावरण की सुरक्षा की चिंता दुनिया-भर के वैज्ञानिकों की नींद खराब किए हुए है, वह पर्यावरण पृथ्वी की परिधि के आसपास एक गोले में सिमटा हुआ है। पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए जो गोल घेरा मनुष्य की सारी जरूरतें पूरी करता है, वह बायोस्फयर या जीवमंडल कहलाता है। रूसी विचारक वी.आई. वर्नवदस्की के अनुसार, हम कह सकते हैं : "भूमि के चारों तरफ के तीस किलोमीटर के वायुमंडल के घेरे से लेकर भूगर्भ तक—जहां जीवन प्राकृतिक रूप में स्पंदित होता है—जीवमंडल कहलाता है।"

जीवमंडल की दूसरी परिभाषा हो सकती है कि इसमें यहां से वहां तक जीवन का एक जाल बिखरा हुआ है—मनुष्य एवं पौधों की जातियों-उपजातियों का, जिनकी बाह्य संरचना अलग-अलग है। इसी जीवमंडल मे ठाठें मारता समुद्र है, खिलखिलाती नदियां व झरने है। ऊंचे-ऊंचे पहाड इसे खूबसूरती प्रदान करते हैं। बढती हुई जनसंख्या इस वायुमंडल की हवा-पानी-जल पर अतिक्रमण करने लगी है। फैक्टरियों ने काला जहरीला धुआं उगला। मनुष्य ने अपने घर यानी कि सीमेंट के जंगल उगाने के लिए हरे-भरे जंगलों को काटना शुरू किया। प्रकृति से की गई इस छेड़छाड के कारण जीवमंडल को सुरक्षित रखने वाली ओजोन परत में छेद होने लगा, जिससे अंतरिक्ष की पराबैंगनी किरणें वातावरण के अंदर आने लगीं। इन किरणों के आगमन से पृथ्वी का मौसम बदलना शुरू हुआ।

जीवमंडल विविध जीवन की धड़कनों से परिपूर्ण एक तरह का गोल घेरा है, जिसमें हर प्रकार के पेड़, जानवर तथा मानव भरे हुए हैं। प्रकृति

ने इतनी सारी विविधताओं को जन्म दिया है, जबकि मनुष्य सिर्फ मनुष्य को ही जन्म दे सकता है! जीवमडल के साथ सूर्य इन जीवों के प्राणों को सींचता है। पृथ्वी पर रहने वाला जीव, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो— पहाड़ का हो, समुद्र का हो, मैदान का हो या भूगर्भ का— सभी को ये पूरी उदारता से संरक्षण देते है।

आदिमानव की अवस्था से जैसे-जैसे इनसान की प्रगति होती गई, उसने अपनी ताकत प्रकृति को नियंत्रित करने में लगा दी। इस नियंत्रण ने पानी को बिजली में बदलकर पृथ्वी की रात्रि को प्रकाशमान किया। पृथ्वी के वनस्पति के अकूत खजाने से अपने लिए भोजन-सामग्री व दवाइयां ढूढीं। पहले जहां जंगल होते थे, वहां मानव ने अपनी कलात्मक रुचि से उन्हे आकार देकर उद्यानों में बदला। मानव की प्रगति में यह दखल सौंदर्यबोध जगाने वाली रही। जैसे-जैसे धन-लिप्सा बढ़ती गई, विज्ञान प्रगति करता गया, फैक्टरियां पैसा व जहरीला धुआं दोनों उगलने लगीं। मानव अपने को पृथ्वी का बादशाह समझने लगा। बस, तभी से जीवमंडल में हलचल मचनी आरंभ हुई।

मानव ने जब प्रकृति को व्यवस्थित किया तब उसे यह बात समझ में आ गई कि उसकी व्यवस्था प्रकृति की व्यवस्था से चाहे कितनी भी उत्तम हो, प्रकृति चाहे तो कभी भी अपने रौद्र रूप— दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि— से इस व्यवस्था को तहस-नहस कर सकती है। मनुष्य अरबों-खरबों स्पेसीज में से एक प्राणी-भर है। जीवमंडल का उसका सर्वोत्तम मस्तिष्क भी इसके रहस्यों को उद्घाटित करने में सक्षम नहीं है।

जीवमंडल में मनुष्य की दखलअंदाजी हद से अधिक बढ़ गई है; इसलिए अब उसका ही कर्तव्य हो जाता है कि वह इसकी हर प्रकार से देखभाल करे। जीवमंडल स्थित जीवन के संरक्षण के लिए जिन लालची लोगों द्वारा खतरा पैदा हो रहा है, पहले उन्हें पहचानना व उन्हें आगाह करना होगा! अपने-आपको भी एक आलोचक दृष्टि से आंकना होगा कि हमारा कौन-सा कार्य हमारे इस घर यानी कि जीवमंडल को क्षति पहुंचा रहा है और उससे कैसे बचा जा सकता है। उदाहरण के लिए— कोई व्यक्ति पानी, बिजली, कुकिंग गैस का कम से कम उपयोग करके जीवमंडल की ऊर्जा को संरक्षित कर सकता है।

मानव ने अंतरिक्ष पर शोध किए। वैज्ञानिक आज तक किसी अन्य ग्रह-उपग्रह पर जीवन के चिह्न तक नही पा सके, क्योंकि वहां जीवनदायी जीवमंडल नही था, इसलिए जीवमडल पृथ्वी के प्राणियो को एक अमिट व अनुपम भेट है। हम सबका कर्तव्य हो जाता है कि अपने आसपास के जीवन व ऊर्जा के जितने प्रकार हैं, उन्हें संभालकर रखे।

इन्हीं उद्देश्यों को लेकर जेनेवा (स्विटजरलैंड) में पर्यावरण-संरक्षण के मुख्यालय की स्थापना की गई थी। सन् 1991 के एक सम्मेलन में (जिसमे भारत का प्रतिनिधित्व किया था इनसोना ने) 21 सितबर को 'बॉयोस्फेयर डे' (जीवमंडल दिवस) घोषित किया गया, क्योंकि पृथ्वी के पूर्वी हेमीस्फेयर में इस दिन, दिन व रात्रि का समय बराबर होता है। तब से अब तक यह दिन 'जीवमंडल दिवस' के रूप में मनाया जाता है, जिससे मानव-सभ्यता याद रखे कि जीवमंडल द्वारा मनुष्य की रक्षा की तथा मनुष्य द्वारा जीवनमंडल की रक्षा की जिम्मेदारी की साझेदारी बराबर की है।

स्विटरजरलैंड के वैज्ञानिक निकोलस पाल्यूनिन कहते हैं : "ऐसा माना जाता है कि इस जीवमंडल मे सबसे बुद्धिमान प्राणी मनुष्य है, लेकिन मै नम्रता से इसका खंडन कर रहा हूं कि जीवमंडल की रक्षा के लिए उसकी आधी बुद्धि ही सक्षम है। इसका प्रमाण है कि यदि मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती तो वह बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में ही जीवमंडल-संरक्षण के लिए सचेत हो जाता। इसको क्षति पहुचाने वाली ऊटपटांग हरकतें न करता। जब अंतरराष्ट्रीय संगठन ने 5 जून को पर्यावरण दिवस घोषित किया और कुछ जोरदार चर्चाएं हुई तो विश्व-मानव की बुद्धि ने अधिक सजगता से अपनी बुरी आदतों के बारे में सोचना शुरू किया।"

वे आगे कहते हैं—जैसे बीस वर्ष पहले यह कल्पना दूभर लगती थी कि इंटरनेट का बटन दबाते ही आप किसी भी देश से संपर्क कर सकते हैं या फैक्स मशीन से दस्तावेज या चित्र भेज सकते हैं, उसी तरह अभी यह कल्पना करना दूभर लगता है कि आने वाले वर्षो में वैज्ञानिकों व अन्य लोगों के प्रयासों से जीवमंडल के प्राणियों में एक स्थायी संतुलन आ जाएगा।

इस जीवावरण की चिंता कनाडा के वैज्ञानिक डॉ. जैक वॉलेंटाइन बडे ही अनूठे ढंग से कर रहे हैं। वे अकसर लोगों की मीटिंग्स में, बच्चों के

स्कूलों में अपने एक बड़े अनूठे ग्लोब से जीवमंडल के महत्त्व को बताते है। उस ग्लोब मे अलग-अलग जानवरों की आवाजों के कैसेट सुने जा सकते हैं। बच्चो के स्कूल में तो वे प्रतीकात्मक रूप से गुब्बारों को फुलाकर प्रदर्शन करते हैं—यदि गुब्बारे में अधिक हवा भर दी जाए तो वह फट जाएगा, यदि इसी तरह हम अपने जीवमंडल पर अतिक्रमण करते रहे तो वह समाप्त हो जाएगा। डॉ. जैक वॉलेंटाइन ने जीवमंडल की रक्षा करने के अपने जुनून के कारण इतनी यात्राएं की हैं कि दुनिया की आधी आबादी उन्हें प्रत्यक्ष रूप में या दूरदर्शन पर देख चुकी है।

जीवमंडल मे अलग-अलग जलवायु हैं व उनकी अपनी भौगोलिक विशेषताएं हैं। इन्हें 'बायोम' या प्राकृतिक आवास कहा जाता है। ये अपनी क्षमता के अनुसार पेड-पौधों व जानवरों को जीवन-सुरक्षा देते है। यही प्रकृति द्वारा उपहार में दिया गया संतुलन है।

जब यूनेस्को ने 'मनुष्य और जीवमंडल योजना' बनाई तो विश्व-भर में जीवमंडल आश्रय-स्थलों की स्थापना हुई। इसके प्रमुख उद्देश्य थे।

- पारिस्थितिकी-संरक्षण और वातावरण के अन्य पक्षों पर अनुसंधान को प्रोत्साहन प्रदान करना।
- वन्य-प्राणियों, पौधों व सूक्ष्मजीवियों की जातियों-प्रजातियों की विविधता व अखंडता का संरक्षण करना।
- शिक्षा, जागृति और प्रशिक्षण के लिए सुविधाएं प्रदान करना।

भारत में अलग-अलग भागों में आज 69 राष्ट्रीय उद्यान हैं और 392 आश्रय-स्थल हैं जो देश के संपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र का 4 प्रतिशत हैं। हिमालय की तराई में सन् 1936 में भारत का प्रथम 'कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान' स्थापित किया गया था। इन जंगलों में ब्रिटिश शिकारी जिम कार्बेट ने घूम-घूमकर चीतल व शेरों का शिकार किया था। जब उसे अपनी गलती समझ में आई कि इस जीवमंडल के जीवों की हत्या का उसे कोई अधिकार नहीं था तो उसने कहा : "कैमरा शूटिंग इज बेटर दैन राइफल शूटिंग।"

3

मनुष्य और वनस्पति

रोटी, कपड़ा और मकान किसी भी मनुष्य की तीन बुनियादी आवश्यकताएं है। यदि रोटी को संपूर्ण संतुलित भोजन का पर्याय मान लिया जाए तो रोटी गोल-गोल घूमती, अनेक वनस्पतियों से टकराती हुई, मनुष्य को संतुलित भोजन देती है। मनुष्य का भोजन उसकी परितृप्ति व उससे मिली ऊर्जा वनस्पतियों की मेहरबानी है। यहां तक कि सूती कपड़ा—जो कि कपास के पौधे की रूई से बनता है— भी वनस्पति का अहसान है।

यदि मनुष्य सुंदर उद्यान बनाता है तो नयनसुख पाने के लिए; फूल उगाता है तो उसकी खुशबू सूंघने के लिए या उसका अपने जीवन में उपयोग करने के लिए, यदि कडी धूप, वर्षा में खेती करता है तो उसके अनाज से पेट भरने के लिए। यदि वनों की सुरक्षा के लिए सरकार वन विभाग खोलती है तो वह भी इसलिए कि पर्यावरण सुरक्षित रहे; भावी पीढ़ियों का जीवन सुरक्षित रहे।

यदि आदिमानव को याद करें तो यह तथ्य उभरकर आता है कि वह तो भोजन पकाना भी नहीं जानता था। वह जंगलों में कंद-मूल-फल खाकर ही जिंदा रहता था। यदि उन पेड़-पौधों ने उसे सहारा नहीं दिया होता तो आज मनुष्य का पृथ्वी पर नामोनिशां तक नहीं होता। एक परिकल्पना के अनुसार, मध्यपाषाण युग (1200 से 600 ईसापूर्व) के बीच मनुष्य ने सुव्यवस्थित रूप से कृषि करना आरंभ किया। इससे पहले तो उसका अधिकांश समय भोजन ढूंढने में ही निकल जाता था।

हम सब जो स्वादिष्ट खाना खाते हैं, क्या कभी सोच पाते हैं कि

कितने करोड आदिमानवों ने अपनी बुद्धि लगाकर ऐसी वनस्पतियों को खोजा होगा जो भोजन के लिए उपयुक्त हों? जंगलों में इस शोध के दौरान कितने व्यक्ति बीमार अथवा जगली जानवरों व सांपों के शिकार हुए होगे और किस तरह उन्होंने व्यवस्थित रूप से कृषि का रास्ता निकाला होगा? ऐसे समय में जबकि शिक्षा शून्य थी, ये रास्ते खोजना ऐसे ही होता होगा जैसे प्रयोग में सफल या असफल होना। आज मनुष्य के प्रतिदिन काम में आने वाला तीन प्रकार का खाना— अनाज, सब्जी व फल— वनस्पतियां ही देती हैं!

थाईलैंड में एक उत्खनन में 10,000 वर्ष पुराने चावल व सोयाबीन मिले हैं। इससे यही अनुमान लगाया गया कि खेती दस हजार पूर्व ही आरंभ हो गई होगी। अब तक यही अनुमान था कि 6000 से 9000 वर्ष पूर्व ही अमेरिका, अफ्रीका व एशिया से कृषि आरंभ हुई थी।

पृथ्वी के जीवमंडल का जीवन सूर्य की ऊर्जा से संचालित होता है। सबसे अधिक सौर ऊर्जा को आत्मसात करने की क्षमता इन वनस्पतियों में है। ये उस सौर ऊर्जा की उपस्थिति में प्रकाश-संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) करते हैं, अर्थात— खाना बनाते हैं। इस क्रिया में कार्बनिक पदार्थ बनते हैं। ये वातावरण से कार्बन डाइ-ऑक्साइड लेकर मनुष्य के श्वसन के लिए ऑक्सीजन देते हैं। पृथ्वी पर पाए जाने वाला कोयला, लिगनाइट, पीट, पेट्रोलियम आदि इस प्रकाश-संश्लेषण क्रिया के गवाह हैं।

वनस्पति ही पृथ्वी की मिट्टी को अपनी जडों से थामे रहती है, नहीं तो सूर्य की ऊर्जा से मिट्टी सूखकर उड़ती रहती; मनुष्य की आंख की किरकिरी बनती रहती। ये हवा में घुली नमी (पानी) को सोखकर मौसम को एक संतुलन देते हैं।

वनस्पति का सबसे छोटा रूप काई या शैवाल (एलगी) 800 से 850 से. तापक्रम पर अपना जीवनक्रम सफलतापूर्वक पूरा करने में सक्षम है। जब कभी ज्वालामुखी फटते हैं या पहाड़ टूटकर गिरते हैं तो मैदानों में उगे पौधे एक कार्पेट की तरह उस उपजाऊ सतह की रक्षा करते हैं। वैज्ञानिकों ने यह बात मानी है कि जब पृथ्वी पर ऑक्सीजन नाम मात्र को

ही थी तब शैवाल का जन्म हुआ। अब तो यह लगभग सभी स्थानों पर जरा-सी नमी मिलते ही उग आती है। अधिकांश वैज्ञानिक यह भी मानते है कि एककोशीय शैवाल ही बहुकोशीय मनुष्य एवं जानवरों की आदिम पूर्वज है तथा पृथ्वी की ऑक्सीजन की 80 प्रतिशत मात्रा इन्हीं नगण्य वनस्पतियों की देन है।

इस वनस्पति— नील-हरित शैवाल की एक और विशेषता है कि इसकी लगभग 60 प्रतिशत प्रजातियां वातावरण से नाइट्रोजन संग्रह करने में सक्षम हैं। नाइट्रोजन खाद्यान्न-फसलों में रसायनिक खाद के रूप में अनिवार्यत: दिया जाता है। अपने देश में ख्यातिप्राप्त शैवालविद् श्री पी. के डे ने लंदन के प्रोफेसर फिट्ज के साथ शोध-कार्य करके यह सिद्ध कर दिखाया कि यदि धान के खेतों में नाइट्रोजन की खाद न डाली जाए तो भी खेतों में उसी नील-हरित शैवाल की प्रजातियां नाइट्रोजन संग्रह करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होती हैं। यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान तथा पैसिफिक आइलैंड में शैवाल की विशेष प्रकार की जातियां खाई भी जाती हैं।

पौधों व पेडों से मिलने वाले सभी खाद्य पदार्थो से मनुष्य को उसके पोषक तत्त्व कार्बोहाइड्रेट्स, विटामिन व खनिज मिलते हैं। इनमें से कुछ हैं— अनाज, दाल, चावल, मक्का, बाजरा, गन्ना, शक्करकंदी, आलू, मूंगफली नारियल, सब्जियां तथा फल।

इन्हीं वनस्पतियों की देन हैं खाने वाले तेल व सिर में लगाने वाले तेल, जिनके प्रमुख स्रोत हैं— नारियल, सरसों, तिल, मूंगफली, सूरजमुखी तथा सोयाबीन।

कहते हैं कि जब तक खाने में गरम मसाला न डाला जाए, खाने का रंग फीका ही रहता है। वह भारतीय व्यंजन ही क्या जिसमें गरम मसाला न हो! हमारे गर्म मसाले— काली मिर्च, लौंग, तेजपात, सोंठ, दालचीनी— सब वनस्पति की ही देन हैं। मनुष्य को गरम पेय पदार्थ— चाय कॉफी व कोको— तरोताजा कर देते हैं; वे भी इन्हीं की देन हैं।

आदिमानव के घर का निर्माण तो वनों के पेड़ों से होता ही था, किंतु आधुनिक मनुष्य के घर की सारी फर्नीचर की सजावट पर वृक्षों की छाया

है। एक लकड़ी की झोपड़ी से काष्ठ-महल तक की यात्रा मनुष्य की प्रगति के इतिहास की गवाह है। इस बात का गवाह है तक्काले (केरल) का सुंदर काष्ठ-महल। मनुष्य आदिम युग से नदियों को पार भी इन्ही वृक्षों की लकड़ी से बनी नावों से करता रहा है।

यही वनस्पति प्रिंट मीडिया में संदेशवाहक का काम करती है, क्योंकि 'वुड पल्प' (लकड़ी की लुगदी) से ही कागज बनाए जाते है। रेयन, प्लास्टिक, बारूद, सेलोफन, फोटोग्राफिक फिल्मों आदि के लिए भी वनस्पति कच्चे माल की तरह काम करते हैं।

मनुष्य का व्यक्तित्व जिन कपड़ो से संवरता है, जो उसे गरिमा प्रदान करते हैं, जो उसे मौसम से बचाते हैं-- वे भी वनस्पति की ही देन हैं। ये वनस्पति ही मनुष्य को मौका देते हैं कि वह कपड़ों पर महंगी कढाई करवा के या चित्रकारी करवा के अपनी रईसी का रोब गांठे।

महिलाएं बेला-चमेली के गजरे पहनकर या बालो में गुलाब-गेंदे के फूल लगाकर अपने सौंदर्य पर इतराती हैं। ये फूल भी पौधों की ही देन हैं। वनस्पतियों के फूल मनुष्य के जीवन के अभूतपूर्व क्षणों से हमेशा जुडे रहते हैं चाहे वह पूजा हो, विवाह हो या मरण। प्रेमी-युगल अपने प्रेम का इजहार फूल देकर ही करते हैं। मिस्र में ममी को संरक्षित करने के लिए जिस 'एसेंशियल ऑइल' का प्रयोग होता था, वह भी वनस्पति की देन है। इन्हीं से सेंट भी बनाया जाता है।

स्त्रियों का सौंदर्य निखारने के लिए छोटे-छोटे पौधे भी अपना रोल अदा करते हैं। शीकाकाई, आंवला के अलावा अनेक जड़ी बूटिया हैं जिनका सौंदर्य-प्रसाधनों में प्रयोग किया जाता है। आज तो ब्यूटी पार्लरों की लोकप्रियता व प्रसिद्धि को वनों की इन्हीं 'हर्ब्स' (जड़ी-बूटियों) ने शिखर तक पहुंचाया है।

प्राचीन समय में वैद्य जंगलों की जडी-बूटियों का रस निकालकर या उन्हें महीन पीसकर, दवा बनाकर लोगों का इलाज करते थे। पहला एंटीबॉयोटिक सन् 1922 में सर एलेग्जेंडर फ्लेमिंग ने पेनिसिलीन के बैक्टीरिया से बनाया था। कुछ और एंटीबॉयोटिक जंगल, एलगी, लिचेन व

कुछ वनस्पतियों के बीजों से ही बनाए जाते हैं।

हमारे भारत में, विशेषकर हिमालय मे, पौधों की असंख्य जातियां है, जिनमें से हम केवल 10 प्रतिशत पौधों को पहचानते है। ये 10 प्रतिशत पौधे भी मानव-जीवन के लिए वरदान हैं, लेकिन अभी तक इन 10 प्रतिशत पौधों पर भी पूरी तरह शोध-कार्य नहीं हुआ है।

कोई दस वर्षो से भारत 4 सौ करोड़ रुपये के औषधियुक्त पौधे निर्यात कर रहा है लेकिन भारत में बहुत कम व्यक्ति ही इन पौधों के महत्त्व को समझते है। वे इन्हें जंगली पौधे समझकर फेंक देते है।

वनस्पति की जैविक विविधता की रक्षा के लिए 'टेस्ट ट्यूब पौधों' पर भी प्रयोग अधिक होने लगे हैं। इसे ही 'टिश्यू कल्चर' कहते है। हर जीवित वस्तु की सबसे छोटी इकाई 'सेल' या 'कोशिका' है। ऐसी बहुत-सी कोशिकाओं के समूह को हम 'टिश्यू' कहते है। पौधे के किसी भाग के टिश्यू को लेकर उसे परखनली में वह सारी कृत्रिम सुविधाएं व पोषक तत्त्व देते हैं, जो उसे भूमि में उगने के लिए चाहिए।

हर पौधा हर स्थान पर नहीं उग सकता। यदि हिमालय पर उगा पौधा मैदानी क्षेत्र में उगाना चाहें तो वह नहीं उगेगा। उसे टेस्ट ट्यूब में उगाकर धीरे-धीरे मैदानी क्षेत्र के वातावरण के अनुकूल बनाना होगा। बाद में जब लगे कि वहां जीवित रह सकता है तो उसे जमीन में रोप सकते हैं। अकसर इन पौधों की गुणवत्ता कम हो जाती है। डॉ. जयंती सेन (कलकत्ता की वैज्ञानिक) सहित कुछ और वैज्ञानिकों को पुरस्कृत इसलिए किया गया है कि उनके उगाए पौधों की अंदरूनी बनावट में अवश्य थोड़ा बदलाव आया है, लेकिन इनकी गुणवत्ता असली पौधों जैसी है।

डॉ. जयंती सेन बताती हैं : "जो उपयोगी पौधे लुप्त होते जा रहे हैं, उनके कुछ अंग लेकर उन्हें टेस्ट ट्यूब में उगाकर वापस वहीं भेज दिया जाता है जहां से वे लाए गए हैं। इस तरह उन पौधों की संख्या बढ़ाई जा रही है जो नष्टप्राय हो रहे हैं।" टिश्यू कल्चर का एक और उपयोग है—पारदर्शी टेस्ट ट्यूब में उगते पौधों के अंदर बनने वाली औषधि का अध्ययन भी बारीकी से किया जा सकता है कि वह किन-किन तत्त्वों से

बन रही है।

म.स विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के प्रोफेसर एम. डेनियल के शोध के अनुसार : "भारत सरकार को चाहिए कि वह औषधियुक्त पौधे को उगाने व संरक्षण देने के लिए लोगों को प्रशिक्षण दे। यदि किसान फल बोने के बाद व्यर्थ पडी जमीन पर इन्हें लगा ले तो उन्हें एक तो उगाने मे आसानी होगी, दूसरे, फसल से अधिक इन पौधों से आय होगी। मात्र एक किलो हर्ब से ही वह सौ-डेढ़ सौ रुपये कमा सकता है।" अश्वगंधा व ब्राह्मी की इटली व जर्मनी में बहुत मांग है। औषधियुक्त पौधे हमारी राष्ट्रीय संपत्ति के अलावा पर्यावरण-निधि भी है, इन्हें संरक्षण मिलना ही चाहिए।

औषधियुक्त पौधों के नाम गिनाना आसान नहीं है—बुखार हर-सिंगार की पत्तियो के रस से ठीक होता है, नारियल के नियमित सेवन से बी पी. सामान्य रहता है; बालों का स्वास्थ्य ठीक रहता है; यह किडनी मे हो गए पत्थर को घुलाने का काम भी करता है। आंवला व इमली में विटामिन 'सी' होता है। नीम एवं कचनार की छाल एंटीसेप्टिक का काम करती हैं। मुंह की त्वचा में यदि जलन हो रही हो तो हरड़ के पानी से कुल्ला करने से ठंडक पहुंचती है। मजीठ, ढाक व कत्था भी किसी न किसी रोग की दवा हैं आदि इत्यादि।

वैज्ञानिक अलबर्ट आइंसटाइन ने आधी सदी पूर्व ही कहा था कि यदि मनुष्य को जीवित रखना है तो हमें हर क्षेत्र में नई विचारधारा खोजनी होगी। पौधों की 'जीन्स नियंत्रण विधि' भी इसी नई विचारधारा की देन है। कुछ पौधों में जहरीली जीन्स या निरर्थक जीन्स होती हैं। इनका नियंत्रण आवश्यक है, नहीं तो पौधे स्वस्थ नहीं होते। भविष्य में पौधों की नस्लें अच्छी हों इसलिए पौधों पर जीन्स नियंत्रण विधि अपनाई जा रही है।

- एक विषैली जीन्स के विकास को रोकने के लिए दूसरा विषैला पदार्थ पौधों में डाला जाता है जो पौधे पर कोई क्रिया नहीं करता, केवल उक्त जीन के विकास को रोक देता है।
- एक जीन जिसे 'एलओएक्स' कहा जाता है विषैली जीन्स तक प्रोटीन

का जाना रोक देता है, जिससे उसका विकास रुक जाता है।

- एक रिप्रेशर जीन जिसमें प्रोटीन का एक कोड होता है, वह 'एलओएक्स' का प्रभाव कम कर देती है।

द्वितीय-विश्व युद्ध के समय मलेरिया के इलाज के लिए सिनकोना वनस्पति की एक प्रजाति से ही कुनैन दवा ढूंढी गई थी।

आदिकाल में मनुष्य कुछ वनस्पतियों के फूल, पत्तों या तनों से रग निकालकर अपने जानवरो को तथा अपने शरीर को भी रंगता था। जबसे इसने एनिलिन व एलिजटिन सश्लेषित रग बना लिए हैं, तबसे प्राकृतिक रगो का प्रयोग कम हो गया है। अभी भी इंडिगो, लॉगवुड, सेफ्लावर, सेफ्रोन, व एनोटो कपड़े व चमड़े को रंगने के प्रयोग में लाए जाते हैं। ये पेंट्स, वार्निशेज, पेपर व स्याही, खाने की कुछ वस्तुओ, दवाइयों व शराबों में भी प्रयुक्त किए जाते हैं।

टेनिन एक तरह के कार्बनिक पदार्थ होते हैं जो कि वनस्पति की ऐसी कोशिकाओं में इकट्ठे होते जाते हैं जिनका पौधों की फिजियालॉजी से कुछ लेना-देना नहीं है। ये लेदर को रंगने के काम में आते हैं। इन्हीं से स्याही भी बनती है।

वनस्पतियों की देन की एक लंबी सूची है—गोंद, वेक्टिन, रेजिन, रबर, मोम, यीस्ट तथा अनेक कीटनाशक इन्हीं की देन हैं।

एक अनुमान के अनुसार, 2,60,000 स्पीशीज—जिनमें फर्न, जिम्नोस्पर्म व फूलवाले कुछ पौधे भी हैं—पृथ्वी पर पाए जाते हैं। इनमें से अनुमानतः 33,698 स्पीशीज अर्थात् लगभग 12.5 प्रतिशत पौधे विलुप्त होते जा रहे हैं। इसी कारण वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन (आई.यू.सी.एन.) ने 'रेड लिस्ट आफ थ्रेटेंड प्लांट्स' की एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें अनेक वैज्ञानिकों ने तथा पौधों को संरक्षण प्रदान करने वाले लोगों ने भी जानकारी दी थी। इसके अनुसार 380 जंगली पौधों की जातियां विलुप्त हो चुकी हैं। विश्व में प्रतिदिन किसी न किसी पौधे की प्रजाति लुप्त होती जाती है। कुछ टापुओं में विलुप्त होने वाली प्रजातियों का प्रतिशत तो 20 से 40 है। इस सूची से यह भी पता लगता है कि चिड़ियों की 11 प्रतिशत जातियों के

लुप्त होने का खतरा बढ़ गया है। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि विलुप्त होती जाने वाली प्रजातियों का अनुमान लगाना उनके लिए भी संभव नही है

वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन सबसे बडे परिवार वाले पौधे पर ध्यान दे रही है—वह है आर्किड्स, जिनकी 25,000 से 30,000 प्रजातिया हैं इनका सरक्षण इसलिए भी जरूरी है कि इनके फूल का नेक्टर हजारो तितलियों व कीड़ों को पोषण देता है। ये आर्किड्स ही हैं जिनके बूते पूरे विश्व में करोडों डॉलर के फूलों व उद्यानो का व्यापार चल रहा है। ये कलाकार की कला में अपनी सुंदरता से रंग भी भरते रहते हैं।

इस परिवार में सबसे उपयोगी हैं—पाम, जिनसे हैट, तेल, फर्नीचर व छतें भी बनाई जाती हैं। इनको लोग घरों में एवं उद्यानों में सजावटी पेड़ की तरह लगाना पसंद करते हैं।"

मनुष्य की तीनों मूलभूत आवश्यकताएं—रोटी, कपड़ा और मकान—सीधे ही वनस्पति से जुडी हैं। इसलिए इनकी जैविक विविधता जीवित रखने के लिए पृथ्वी के किसी भी मनुष्य की इनके प्रति लापरवाही क्षम्य नहीं है, क्योंकि यदि कोई भी बहुमूल्य वनस्पति-प्रजाति पृथ्वी से विलुप्त हो गई तो पृथ्वी का बड़े से बड़ा खजाना भी उसकी भरपाई करने में असमर्थ होगा।

4

मनुष्य और समुद्र

समुद्र को बांधना एक दिवास्वप्न लगता है, लेकिन पृथ्वी की ही सामर्थ्य है कि भाप बनकर आकाश में उड़ते आवारा समुद्र को अपने हरे, ऊंचे पेड़ों, की शाखाओं के आकर्षण में बांधकर उसे वापस अपनी ओर खींच लेती है—और समुद्र धरती पर बरस उठता है—रिमझिम! रिमझिम!

समुद्र—एक अथाह रहस्य! जिसके रहस्यों को गोताखोर अनवरत इसके गर्भ में डुबकी लगाकर ढूंढ़ते रहते हैं, फिर भी समुद्र के संपूर्ण रहस्य को कौन जान पाया है? पृथ्वी के 70 प्रतिशत वजूद को यह अपनी बांहों मे समेटे हुए है। यह आदमी के अंदर धड़कते जीवन का स्रोत है, इसमें अनेक जानवर व पौधे पैदा होते हैं और पलते हैं। एक अनुमान के अनुसार, साढ़े तीन करोड़ लोग समुद्र के किनारे रहते हैं तथा दो करोड़ से ऊपर लोगों की आजीविका का साधन समुद्र में मिलने वाली मछलियां ही हैं।

आज सारे विश्व के वैज्ञानिक चिंतित हैं कि मानव-सभ्यता समुद्र को क्या दे रही है? उसने तो अपनी गंदगी, औद्योगिक गंदगी तथा कृषि में काम आने वाले रसायनों को नदियों में निरंतर उलीचकर समुद्र के धैर्य को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। समुद्र भी उफन-उफनकर अपना क्रोध प्रकट करता रहता है—इस गंदगी को अपने-आपमें झेलने की क्षमता अब मुझमें नहीं है!

सन् 1996-1998 में वैज्ञानिकों ने पेरू देश के समुद्री तट पर पता लगाया था कि उसका तापमान बढ़ गया है। यह 'ईलनीनो' का पहला

लक्षण था। सन् 1998 में फ्लोरिडा व केलीफोर्निया ने भयंकर समुद्री तूफान के थपेड़े झेले हैं। ओपन व इंडोनेशिया में जो दस-बारह महीने का सूखा पड़ा, जिसने जंगलों में आग लगा दी थी, वह भी इस बदलते मौसम का संकेत है। घाना में दुर्भिक्ष के कारण खाने की सामग्री की भयंकर कमी हो गई।

डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. के भूतपूर्व वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ. तंडी एवार्डी ने कहा है : "समुद्र और उसके किनारे का 'इको सिस्टम' मनुष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह मनुष्य-जीवन की असीमित रूप से मदद करता है। हम जिस तरह से समुद्र के साथ पेश आ रहे हैं, वह विनाशकारी है। हमे ये आदते बदलनी होंगी, वरना हम इस असीमित संपदा को खो बैठेंगे।"

वैज्ञानिकों की ऐसी मान्यता है कि साढ़े तीन खरब वर्ष पहले पृथ्वी पर समुद्र में ही जीवन का प्रस्फुटन हुआ था, लेकिन बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह समुद्री जीवन खतरे में पडने लगा। मानव इसमें से अत्यधिक मछलियां पकडने लगा और पृथ्वी की गंदगी इसमें डालने लगा। तीन दशक पूर्व डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. का ध्यान इस ओर गया। तब उसने अभियान आरंभ किया कि महासमुद्र में स्थित जीवों व वनस्पतियों की रक्षा की जाए।

समुद्र में तेल भी प्रदूषण फैलाता है। एन.जी.सी. का समुद्र में तेल-उत्खनन का काम भी कुछ तेल समुद्र में मिला देता है। कभी आपस में जहाज टकरा जाते हैं तो कभी किसी जहाज से तेल रिसने लगता है। इस तेल की चिकनाहट से समुद्र में हवा का आना-जाना रुक जाता है, समुद्र के अंदर जो पारिस्थितकी-तंत्र है, वह भी नष्ट होने लगता है। यह तेल पक्षियों व जलजीवों को हानि पहुंचाता है। इस तेल से पक्षियों के पर चिपक जाते हैं। हवा के अंदर न पहुंचने से समुद्री जीवों की श्वास-क्रिया में अवरोध आता है। यह तेल-प्रदूषण इतना सूक्ष्म होता है कि इससे छोटी-छोटी वनस्पतियां मर जाती हैं या प्रदूषित हो जाती हैं। इन प्रदूषित वनस्पतियों को मछलियां खाती हैं, जिनसे उनका स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है।

अंतरराष्ट्रीय संगठन से जुड़े लोगों ने समुद्र के धैर्य पर हो रहे इस

अतिक्रमण को पहचाना और सन् 1998 को 'अंतरराष्ट्रीय महासागर वर्ष' घोषित किया था, जिससे दुनिया-भर के लोग गंभीरता से सोचें कि जो पीने का पानी है वह भी हम समुद्र से ही पाते हैं। पानी के बिना जीवन संभव है—यह सोचना भी दूभर लगता है। पानी को निरंतर प्राप्त करने के लिए अपनी आदतों को सुधारना होगा, नहीं तो भविष्य में आने वाली पीढ़ियां कहीं पानी की एक-एक बूंद के लिए तरसकर न रह जाएं। सन् 1998 मे ही 8 जून को 'विश्व-महासागर दिवस' घोषित किया गया।

5 जून 'विश्व-पर्यावरण दिवस' के अवसर पर 'यूनाइटेड नेशंस एनवायरमेंट प्रोग्राम' (यू.एन.ई.पी.) व 'फाउंडेशन फॉर एनवायरमेंट एवेयरनेस' एवं इनसोना ने एक साथ मिलकर 'पृथ्वी के जीवन के लिए समुद्र-रक्षण' दिवस मनाया।

डॉ. जी.एम. ओझा के अनुसार : "यह सच है कि हम लोगों में से अधिकांश लोग समुद्र के पास नहीं रहते, लेकिन किसी न किसी रूप में हमारा जीवन समुद्र पर ही निर्भर है। हम अपने प्रजातांत्रिक अधिकार तो साफ हवा, साफ पानी व पृथ्वी के स्वस्थ वातावरण के रूप में पाना चाहते हैं, लेकिन समुद्र-संरक्षण के विषय में भी सोचना हमारा कर्तव्य है। यदि हमने इस विषय में अभी से नहीं सोचा तो आने वाली पीढियां धीरे-धीरे समाप्त होती जाएंगी।"

डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. ने 16 अक्तूबर 1996 को ही दुनिया के लोगों का आवाहन किया था कि समुद्र पर किए जा रहे अतिशोषण को रोकें।

मांट्रियल (कनाडा) में पर्यावरण-संरक्षण से जुड़ी दुनिया की सबसे बडी संस्था 'विश्व-पर्यावरण कांग्रेस' ने प्रेस कान्फ्रेंस में यही बात कही तथा अपने प्रकाशित परिपत्र में विभिन्न प्राणियों की आपसी विभिन्नता व पृथ्वी पर मिलने वाली विभिन्नता के संरक्षण की बात उठाई। इसमें समुद्र-संरक्षण पर भी जोर दिया गया। इस अवसर पर डेविड हाउंस—जो कि एक वरिष्ठ विश्लेषक हैं—ने कहा : "समुद्र के किनारे बसे सभी देशों को एक अंतरराष्ट्रीय अनुबंध करना चाहिए। अनेक देशों में जैविक विभिन्नता (बॉयोडाइवर्सिटी) पर सम्मेलन होने लगे हैं। अब समुद्र-संरक्षण के विषय

में कानून बनाने पर भी सोचा जाना चाहिए। आज महासागरों की स्थिति इतनी खराब है कि सिर्फ कानून बनाने से काम नहीं चलेगा, प्रत्येक देश को इन्हें लागू भी करना होगा!"

अब तो कोई भी यह बात मानने से इनकार नहीं कर सकता कि हिंद महासागर व अन्य महासागर अपने-आपमें बहुत सुंदर व अनूठे जीवों को समेटे हुए हैं। हमें यदि इस समुद्री प्राकृतिक एवं इकोलाजिकल सतुलन को बचाना है तो हमें इन समुद्रों को 'प्राकृतिक शांत क्षेत्र' मानना होगा।

हिंद महासागर में व्हेल सेंक्चुरी बननी चाहिए—यह प्रस्ताव डॉ. जी एम. ओझा का ही था। वह सन् 1983 से अंतरराष्ट्रीय व्हेलिंग कमीशन की मदद से यही काम कर रहे हैं कि इस समुद्री क्षेत्र में व्हेल, डॉलफिन व पॉरपाइजेज के जीवन की रक्षा हो सके। भारत के समुद्रों में तैलीय प्रदूषण के लिए समुद्र में बहुत काम होना बाकी है। इन प्रयासों का फायदा आलसी कछुए को मिला है—उनकी आयु के साथ कुछ छोटे प्राणियों की आयु भी बढ़ गई है।

डॉ. ओझा कहते हैं : "भारत की प्राचीन सभ्यता व संस्कृति में हमेशा समुद्र का पूजन किया जाता रहा है, क्योंकि वह हमारे पीने की पानी से सीधे जुड़ा है। ऋग्वेद में कहा भी है—

> *"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति*
> *तेज जीवन्ति प्रदिशध्वतसः।*
> *ततः क्षरत्मभरं*
> *तद्विध्वमुब्जीवति।।"*

अर्थात्—समुद्र ही जन्मदाता है; उसके द्वारा हर दिशा में जीव जीवित हैं। महासागर ही बादल बनाते हैं जो कि पूरे ब्रह्मांड को जीवन देते हैं।

अब बात भूमध्यसागर (मेडीटेरियन समुद्र) की। इसी समुद्र की अठारह देशों की बेसिन है, जिनका समुद्री किनारा एक है। ये देश हैं—स्पेन, फ्रांस, मोरक्को, इटली, यूगोस्वालिया, अल्बानिया, ग्रीस, मोनेको, टर्की, साइप्रस, सीरिया, लेबनान, इजराइल, मिस्र, लीबिया, माल्टा, ट्यूनिशिया

तथा अल्जीरिया, पृथ्वी ने उदार होकर सबके लिए अपना एक-सा समुद्री आंचल फैलाया है, लेकिन मनुष्य ने उत्तर दिशा में ओलिव वृक्ष उगाकर व पूर्व दिशा में डेटपाम वृक्ष उगाकर इसकी सीमाएं निर्धारित की हैं।

ऐसे समुद्र को, जो दो भूमि के बीच में होता है मेडिटेरियन समुद्र (भूमध्यसागर) कहते हैं। उपरोक्त समुद्र बेसिन का एक उदाहरण है। बेसिन कहते हैं समुद्र के खारे पानी व उसके दोनों ओर के समुद्री किनारे की जमीन को। इस क्षेत्र के मौसम को 'मेडिटेरियन मौसम' कहते हैं।

सन् 1975 में मेडीटेरियन समुद्र वाले सोलह देशों ने बार्सीलोना सम्मेलन में भाग लिया था और यहां संधि विशेष रूप से इसीलिए की थी। प्रदूषण-नियंत्रण व शोध नेटवर्क स्थापित देशों की 83 प्रयोगशालाओं में ये काम चलाकर जो परिणाम निकाले गए, उसकी जानकारी दे रहे हैं, मिस्र के प्रोफेसर एम.के सॉस--

- इस मेडिटेरियन समुद्र में 85 प्रतिशत सीवेज समुद्री किनारों पर बसे 120 शहरों से आता है, इसीलिए यहां पानी से उत्पन्न होने वाले पीलिया, डिसेंट्री, कालरा व अन्य रोग जल्दी-जल्दी होते हैं।
- 24 प्रतिशत मेडीटेरियन समुद्री किनारे नहाने के लिए सुरक्षित नहीं है, क्योंकि कुछ फैक्टरी व तेल रिफायनरी अपना विषैला एवं प्रदूषित द्रव इसमें उलीच देती हैं। जाहिर है कि मछलियां भी यही पानी पीती होंगी, वे भी मनुष्य के पेट में जाकर हानिकारक बनेंगी ही।
- प्रत्येक वर्ष 1,20,000 टन मिनरल ऑइल, 12,000 टन फीनोल, 60,000 टन डिटरजेंट, 100 टन पारा, 3,800 टन फॉस्फोरस व 8,00,000 टन नाइट्रोजन समुद्र में अन्य स्रोतों से मिलता है।
- ऑइल टैंकर व दूसरी तरह के समुद्री वाहन सैकड़ों टन कचरा व तेल प्रतिदिन इसमें डालते ही हैं।
- यह भी अनुमान लगाया गया कि हजारों टन रसायन--पेस्टीसाइड्स (कीटनाशक दवा) की मेहरबानी से समुद्र में पहुंच जाते हैं।
- मनुष्य की दखलअंदाजी का परिणाम? इन समुद्र का केवल 4 प्रतिशत क्षेत्र शेलफिश के विकास के लिए उपयुक्त है। कुछ

मछलियों की जातियां समाप्त ही हो गई हैं। समुद्र-तल में जम गए विषैले पदार्थ में अनेक समुद्री जीव उत्पन्न होते हैं। उनके अंदर हुए दुष्प्रभाव को समझा जा सकता है।

- इन समुद्रों में जैविक उत्पादन सबसे कम होता है।

इस मेडीटेरियन समुद्र के पश्चिमी व उत्तर-पश्चिमी भाग में तेल व गैस का उत्खनन सबसे कम हो पाता है। हां, यह जरूर है यह विश्व के समुद्री यातायात के लिए बहुत सहायक हैं। स्वेज कैनाल से तथा यहां से विश्व का 15 प्रतिशत तेल ट्रैफिक गुजरता है।

इनका भीगा हुआ नम समुद्री किनारा जंगली पौधों की जातियों को पल्लवित करने के लिए व माइग्रेट बर्ड्स (प्रवासी पक्षियों) का आरामगृह है। इसीलिए सन् 1981 में इसे संरक्षित क्षेत्र घोषित करके यहां की पांच सौ वनस्पति-प्रजातियों की रक्षा का बीड़ा उठाया गया।

इस समुद्र के किनारे बसे देशों को मौसम के अनूठे नमूने झेलने पडते हैं—जैसे सर्दी की वर्षा, गर्मी में सूखा। सर्दी कभी-कभी घोर ठिठुरन भरी होती है तो गरमी 60 सेल्सियस तक पडती है। इन क्षेत्रों में इतने उतार-चढाव आते हैं कि इसे 'सभ्यता का झूला' कहा जाता है।

बदलते हुए मौसमों के कारण इन देशों में पानी की कमी रहती है, जमीन की उपजाऊ शक्ति कम होती जाती है। 'सॉइल इरोजन' (मृदा-क्षरण) चलता ही रहता है। तूफानी हवाएं भी जीवन पर प्रभाव डालती हैं। इन समस्याओं को देखते हुए यहां के देशों की सरकारों ने सन् 1990 में आपस में अनेक योजनाएं बनाई व संधि की है, जिनमें कुछ आर्थिक सुरक्षा योजनाएं भी शामिल हैं। इन संधियों के मुद्दे यही हैं—पेय जल, मौसम एवं जनसंख्या एवं जैविक विविधता का संरक्षण।

समुद्र के किनारे और जमीन के टुकड़े के मिलन-बिंदु पर उगते हैं पेड़ों के जंगल यानी मेनग्रूव्स जो कि नमकीन पानी में भी सिर उठाकर जी सकते हैं। इनकी अलग-अलग 70 जातियां खोजी जा चुकी हैं। इनमें अलग तरह की मिट्टी में जीवित रहने की क्षमता होती है। ये समुद्री हवा के थपेड़ों, ज्वार-भाटों व लहरों की मार के बीच मजे में जी सकते हैं। इन पेड़ों में

ये क्षमताएं इनकी विशेष जडों के कारण होती हैं। ऊपर की हवाई जड़ें (न्यूमेटोफोर) वातावरण से ऑक्सीजन लेकर मिट्टी के अंदर की जडों को पहुचाती हैं। अधिकतर मेनग्रूव के पेड़ में टिंबर पाया जाता है, जिससे यह पौधा मजबूत बनता है। समुद्र के किनारे बसने वाले लोग इसकी लकडी को ईधन की तरह इस्तेमाल करते हैं या फिर मछली व केकडे पकडने के लिए। एक अनुमान के अनुसार, इनका जंगल 1,81,000 किमी क्षेत्र घेरे हुए है व इसके 2.1 प्रतिशत क्षेत्र के पेड समाप्त होते जा रहे है। वैज्ञानिक समुद्री किनारे के इन पौधों पर इसलिए ध्यान दे रहे हैं कि इनकी आर्थिक व वैज्ञानिक रुचि इनमें हैं।

समुद्री जीव में सबसे सुंदर होते हैं कोरल अर्थात् प्रवाल (मूंगा)। कोरल रीफ (प्रवाल-भित्ति) अनेक प्रकार की बनावट के होते हैं। ये समुद्र-तल का एक प्रतिशत हिस्सा घेरे होते हैं व समुद्री प्रजातियों का चौथाई हिस्सा होते हैं, इसलिए इन्हें समुद्र का 'वर्षा-वन' कहा जाता है। कोरल पॉलिप्स एक तरफ तो रीफ से जुड़े होते हैं; दूसरे, ये समुद्री जीवों में गिने जाते हैं न कि पौधों में! इनके महत्त्व को देखते हुए अंतरराष्ट्रीय संगठन ने सन् 1997 को 'रीफ ईयर' घोषित किया था।

एक रीफ लगभग 3,000 समुद्री जीवों को आश्रय देता है। बहुत-सी जीवनदायिनी दवाएं इन्हीं से बनाई जाती हैं। अब तो कोरल्स का उपयोग मनुष्य में नकली हड्डी के जोड़ की तरह किया जाने लगा है। निम्नवर्ग के लोगो के लिए इनका भोजन प्रोटीनयुक्त होता है। इनसे सुंदर सजावट का सामान बनाया जाता है। तूफान के थपेड़ों में ये सीमा-प्रहरी का काम करते है और समुद्री किनारों की मिट्टी को धसकने से रोकते हैं।

पृथ्वी के अधिकांश भाग को समुद्र ही अपनी उछलती-कूदती लहरों से घेरे हुए है और हमारी पृथ्वी के अधिकांश जीव समुद्रों में ही रहते हैं। इससे विश्व के 65 प्रतिशत लोगों को सहायता मिलती है। कोरल रीफ को संरक्षण देने का अर्थ है—समुद्र के संपूर्ण पर्यावरण को संरक्षण देना। इनके अलग-अलग रंग लोगों को आकर्षित करते हैं।

अकसर हजारों छोटे-छोटे जंतु—जिनके टिश्यू में कोरल एलगी होती

है— सह-जीवन व्यतीत करते हैं। उनके ऊपर चूना जमा होता जाता है, जो कि इन हजारों जीवों की रक्षा के लिए कंकाल का काम करता है। ये तीन प्रकार के होते हैं। कुछ समुद्री किनारों पर पाए जाते है, कुछ लैगून के साथ बहते हुए मुख्य भूमि से बिछुड़ जाते हैं और गोलाकार रीफ टापुओं पर मिलते हैं।

कुछ देशों ने अपने निकट के समुद्र में 'समुद्र पारिस्थितिकी संरक्षित क्षेत्र' बनाए हैं, जिन्हें 'नो टेक' क्षेत्र कहा जाता है। यहां कोरल रीफस व मछलियों के संरक्षण का ध्यान रखा जाता है। ऐसे स्थान प्रसिद्ध पर्यटन-स्थल भी होते हैं, जहां पर्यटक कांच की नावों में बैठकर समुद्र के अंदर के रंग-बिरंगे प्रवालों को देख सकते हैं।

समुद्र के ये 'नो टेक' क्षेत्र वैज्ञानिक शोध, शिक्षा, फोटोग्राफी तथा जैविक विविधता के संरक्षण व समुद्र के अद्‌भुत सौंदर्य-शक्ति के कारण मनोरंजन व पर्यटन का केंद्र बने हुए हैं। इन्हीं कारणों से 'द इंटरनेशनल कोरल रीफ इनिशिऐटिव' (आई.सी.आर आई) विश्व-स्तर पर इनके संरक्षण का काम कर रहा है।

समुद्र न जाने कितने करोड़ लोगों को आजीविका देता है— इसका व इसके जीवों का संरक्षण मनुष्य के लिए ऐसा ही है जैसे कि एक गोताखोर समुद्र में मेहनत से गोता लगाकर सीपियां तो अनेक चुन लाता है, लेकिन सच्चा मोती तो किसी-किसी सीपी में होता है!

5
मनुष्य और पर्वत

जैसे हम किसी वस्तु को हाथों से सुरक्षित पकड़े रहते हैं और इस तरह सभाले रहते हैं कि उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुंचे, ऐसी ही है पृथ्वी पर फैली पर्वत-शृंखला— किसी भी प्रहरी की भांति अडिग, अविचल, सैकड़ों गुफाओं, वनस्पतियों और जानवरों को अपने आंचल में समेटे हुए। ये उमड़ते-घुमड़ते काले-कजरारे बादलों को रास्ता बताती है तो अपनी व नीचे की घाटियों की जैविक विविधता को संरक्षण भी देती है।

पर्वत; पर्वतों के बीच की सुरमई घाटियां और उनमे से निकलती नदियां, झर-झर बहते झरने ही तो मनुष्य के प्राण हैं, जो कि उसे पीने का पानी मुहैया कराते है। समुद्र के बाद झील व नदियां ही तो पानी और जमीन के बीच लक्ष्मण-रेखा खींचती हैं। पर्वतों के ऊंचे-ऊंचे शिखर ही तो हैं जो इन झीलों व नदियों में अपनी परछाईं डालकर एक नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

जबसे ओजोन परत में हुए बदलाव के कारण मौसम ने अलग-अलग रंग दिखाने शुरू किए हैं, तबसे इन शृंखलाओं ने उन लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचा है, जो दिल व दिमाग से चाहते हैं कि हमारी पृथ्वी इसी विविधता से परिपूर्ण रहे। इक्कीसवीं सदी में पहुंचने से पूर्व ही लोग पर्वतीय राष्ट्रीय उद्यान, प्राकृतिक उद्यान एवं न्यू इनोवेटिव जोन बनाने की बात सोचने लगे हैं। कुछ तो बना भी लिए गए हैं।

अमेरिका के वैज्ञानिक लॉरेंस एस. हैमिल्टन टापुओं के पर्वतों के बारे में जानकारी देते हैं : ''संरक्षण जीवविज्ञान का ज्ञान पृथ्वी की पूरी सृष्टि को संरक्षित करने में कुछ ऐसा ही है जैसे कि कोई छोटा टापू, और यह

टापू अपने-आपमें प्राकृतिक रूप से समुद्र नही होता, लेकिन समुद्र को एक नयनाभिराम दृश्य मे बदल देता है। यहां कोई जातियों-उपजातियों की भरमार नहीं होती। अधिकतर यहां भालू, भेड़िया व बाज ही पाए जाते है। यहां के पर्यावरण में बारिश, तूफान व आधी के कारण जल्दी-जल्दी बदलाव आता है। यहा के पर्वतों पर इसीलिए जानवर रहना पसंद नही करते, कहीं और चले जाते हैं।

विशाल एवं लंबी पर्वत-शृंखलाओं पर अनेक जानवर रहना पसद करते हैं। उदाहरण के लिए— हिमालय की विशाल पर्वत-शृंखला में आकर्षक प्राणी पाए जाते हैं, जिनमें जंगली भेंड और बकरियां तथा आइबेक्स सम्मिलित हैं। कुछ पहाडों के ऊपरी भागो में साही तथा छोटा पांडा भी मिलते हैं।

बड़ी-बड़ी पर्वत-शृंखलाओं में भी ये तापमान मे बदलाव, वर्ष के समय व दशा में बदलाव को झेलते रहते हैं। पहाड़ों की जैविक विविधता को बचाने के लिए अभी योजनाएं अपूर्ण हैं। अनेक देशों में जो पर्वतीय राष्ट्रीय उद्यान बनाए गए हैं वे केवल किसी भी पर्वतीय शृंखला की एक ही चोटी को संरक्षित कर सकते हैं। किसी भी पर्वत की चोटी के आसपास का क्षेत्र ही उस पर्वत का सबसे उपजाऊ क्षेत्र होता है और हम कृषि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस क्षेत्र से संरक्षण के नाम पर हाथ धो बैठते है।

पूरी दुनिया के वैज्ञानिक यह सपना देख रहे हैं जितनी अधिक से अधिक पर्वत-शृंखलाओ को संरक्षित कर सकें उतना अच्छा है। मीजो अमेरिकन बॉयोटिक शृंखला ऐसी है जो सात देशो की परिधि में आती है। इसके विकास के लिए इन देशों ने सन् 1994 में एक संधि की थी।

पृथ्वी के उत्तरी भाग के चट्टानी पहाड़ों पर भी ध्यान दिया जा रहा है। मेलोस्टोन से लेकर युकोन संरक्षित शृंखला को इसके अंतर्गत लिया है।

भारत की मानस टाइगर रिजर्व से लेकर 4,900 मीटर ऊंचे भूटान के ब्लैक माउंटेन नेशनल पार्क के साथ-साथ रॉयल मानस नेशनल पार्क भूटान में बनाया गया है। लेह (लद्दाख) के 'लिहो' (लेह एनवायरमेंटल

एंड हेल्थ आर्गनाइजेशन) द्वारा अनेक प्रकार की सब्जियां तथा अनाज उगाकर लेह के पहाडो की उपयोगिता सिद्ध की जा रही हैं।

बोलिविया व पेरू ने पहाडों पर सन् 1995 एवं 1996 में दो नए पार्क बनाए हैं जो नौ लाख हेक्टेयर पहाड़ी ढलान को घेरते है।

अब पर्वतों पर रहने वाले जानवरों की बात विस्तार से :

भारत में लद्दाख और कुमायूं की पहाडियों में जंगली याक पाए जाते है। पर्वतों पर उपलब्ध घास और झाड़ियां इनका भोजन हैं। इनमें इतनी क्षमता होती है कि ये बर्फ को भी अपने मुंह से हटाकर उसके नीचे घास ढूंढ लेते हैं। हिमालय पर्वत पर रहने वाले लोगों के द्वारा सदियों से याक को पालतू बनाए रखा गया है, क्योंकि ये बोझ ढोने के काम में आते हैं तथा इनसे दूध, मांस, बाल और चमड़ा भी प्राप्त होता है।

भारतीय प्रायद्वीप के ऊंचे-नीचे पहाड़ों पर चौसिंगा हिरन यानी चार सींगोंवाला हिरन पाया जाता है। यह सब हिरणों से अलग दिखाई देता है, क्योंकि इसके नर के सिर पर एक-दूसरे के पीछे चार छोटे व पैने सीग होते हैं। यह हिरन अकसर झरनों के पास अकेला या जोड़े में दिखाई देता है।

कस्तूरी अपनी सुगंध के लिए मशहूर है। यह कस्तूरी मृग की नाभि में पाई जाती है। इसका उपयोग सुगंध व दवा बनाने में किया जाता है, इसलिए मनुष्य कस्तूरी को पाने के लिए शिकार की तरह कस्तूरी मृग को घेरता है; सताता है। संपूर्ण हिमालय पर्वत में ये पाए जाते हैं। पर्वतो के इनके प्राकृतिक आवास नष्ट होने के कारण भारत सरकार एवं वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन (आई.यू.सी.एन.) ने उत्तरप्रदेश के केदारनाथ अभयारण्य में 'संकटग्रस्त हिरण कार्यक्रम' योजना आरंभ की है।

पर्वतों की बकरियों की अपनी अनूठी छटा होती है। इनकी एक जाति को पहाड़ी बकरी (हेमिगेट्स जेमलाहिक्स) कहते हैं। इनके बाल गरदन तथा कंधों पर लंबे होते हैं। यह कश्मीर से भूटान तक 3000 से 4000 फीट की ऊंचाई तक पाई जाती है। अधिक सर्दी पड़ने पर यह

थोड़ा नीचे उतर आती है। पर्वत पर रहने के कारण इसके पैर शक्तिशाली, कान पतले और सीधे सींग पीछे की तरफ मुड़े होते हैं। स्थानीय भाषा में इन्हें 'हिमालयी टाहर' कहते हैं।

दक्षिण भारत के नीलगिरि पर्वत पर जो पहाड़ी बकरी 'नीलगिरि टाहर' पाई जाती है वह हिमालय की बकरी हिमालयी टाहर का ही रूप है। ये प्राय: 5 से 50 तक के झुंड में घूमती हैं। बच्चे भी इनके साथ होते हैं। इन बकरियों को पहाडी लोग मारकर इनका मांस खाते हैं। यह वनों के ऊपर चट्टानी तथा घासवाले क्षेत्रों में रहने वाला प्राणी है।

हिमालय के पहाडी क्षेत्रों का ही अद्‌भुत प्राकृतिक उपहार है—साकिन बकरी (आइबेक्स)। इसके शरीर का रंग ऋतु के साथ बदलता रहता है—सर्दियों में थोड़ा स्लेटी मिला हुआ पीला तथा गर्मियों में नर में अनियमित सफेद धब्बों से भरा हुआ गहरा भूरा और मादा में पीला भूरा होता है। इसी बकरी से प्राप्त ऊन के पशमीना शॉल दुनिया-भर में प्रसिद्ध हैं। इस ऊन से मोजे व दस्ताने भी बुने जाते हैं।

यहीं पर मांसखोर (वेगनर) बकरी भी 600 से 3,600 मीटर तक की ऊंचाई पर पाई जाती है। दुनिया-भर में इन जीवों की सुरक्षा के लिए पर्वतों पर पार्क बनाने की योजनाएं चल रही हैं।

यदि यूरोप के नक्शे पर ध्यान से दृष्टि डालें तो पता लगेगा कि आल्प्स पर्वत-श्रृंखला पर पार्क बनाने की अनेक संभावनाएं हैं। अल्पी मेरीटाइम (इटली) से लेकर मरकेंटूर (फ्रांस) तक 250 किलोमीटर की श्रृंखला उपयुक्त है। दो पार्क यहां पहले से ही दोनों देशों ने मिल-जुलकर बनाए हैं।

वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन का, संरक्षित क्षेत्र के वर्ल्ड कमीशन का विश्व के अनेक पर्वतों को लेकर, यही सपना है कि ऑस्ट्रियन, आल्प्स, कॉकेशस, काराकोरम तथा एटलस पर्वत-श्रृंखलाओं के कुछ हिस्सों को लोगों, संस्थानों एवं सरकारों के सहयोग से संरक्षित किया जाए।

6
मनुष्य और जल

जल बिन मछली ही नहीं, मनुष्य भी नहीं रह सकता। पीने के लिए तो जल चाहिए ही, साथ ही वातावरण की नमी भी मनुष्य के मन व त्वचा पर प्रतिक्रिया करती है। यदि जरा भी उमस हो तो मनुष्य घबरा उठता है। समुद्र से भाप बनकर उड़ता पानी हाइड्रोक्लोरिक चक्र द्वारा पुनः पृथ्वी पर बरस पड़ता है। अब तो मनुष्य ने कृत्रिम हाइड्रोक्लोरिक चक्र द्वारा इच्छित वर्षा करना भी सीख लिया है।

वर्षा होते ही प्यासी धरती पर हरीतिमा लहरा उठती है। वर्षा का संबंध मनमयूर से भी है। मयूर ही नहीं, मानव का मन–मयूर भी नाच उठता है। पपीहा 'पीहू–पीहू' चिल्लाने लगता है।

प्रातः उठते ही मानव–दिनचर्या पानी से ही आरंभ होती है। स्नान, भोजन से लेकर कहां पानी नहीं चाहिए? पृथ्वी की बढ़ती हुई आबादी के कारण पृथ्वी के गर्भ में स्थित पानी भी अब हमारे लिए कम पड़ने लगा है। ऊपर से कभी कहीं वर्षा कम हो जाए तो उस क्षेत्र की स्थिति बहुत खराब हो जाती है। एक अंतरराष्ट्रीय सर्वेक्षण के अनुसार— श्रीलंका में 19 प्रतिशत, युगांडा में 16 प्रतिशत, मोजेंबिक में 19 प्रतिशत, नेपाल में 11 प्रतिशत, अफगानिस्तान में 10 प्रतिशत और इथिओपिया में तो केवल 8 प्रतिशत पानी रह गया है।

कनाडा झीलों का देश कहा जाता है। यहां आंटेटियों में रहने वाले जल–विशेषज्ञ डॉ जैक वॉलेंटइन ने अपनी सारी उम्र इसी पेयजल एवं सरक्षण के लिए लगा दी है पानी क्योंकि मनष्य की मलभत

समस्या है, इसलिए सन् 1909 में ही एक इटरनेशनल ज्वाइंट कमीशन की स्थापना की गई थी जिसके कनाडा व अमेरिका सहित छः देश सदस्य थे। कनाडा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे डॉ. वॉलेंटाइन। यह कमीशन किसी भी सरकार के दबाव से मुक्त था। पानी को प्रदूषण से मुक्त करने वाला विश्वविख्यात क्लोरीन युद्ध इसी कमीशन द्वारा आरंभ हुआ। इसी कमीशन ने दबाव डाला कि झीलों व नदियों को फास्फेट डिटरजेंट से मुक्त किया जाए। फास्फेट तो दुनिया का ऐसा तत्त्व है जिसे हम खाने की सामग्री मे खाते हैं, मल द्वारा त्यागते है। फास्फेट को खाद व डिटरजेट मे भी उपयोग मे लाते हैं। यही फास्फेट पानी में जाकर खाद का काम करता है, जिससे नदी मे एलगी व छोटे-छोटे पौधे उगकर पानी को गदा करने लगते हैं।

फास्फेट-युक्त डिटरजेट की खोज द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही हुई थी, क्योंकि उन दिनों जब प्लेटें साबुन से धोई जाती थीं तो कुछ चिपचिपा पदार्थ उनके किनारे लग जाता था, लेकिन प्रोक्टर व गेंबल कंपनी ने फास्फेट ग्रुप से बनने वाला डिटरजेंट खोज निकाला, जिनसे बरतन व कपडे तो चमक गए, लेकिन पानी की स्वच्छता खतरे में पड गई।

विश्व में कुछ ऐसी झीलें भी हैं जिनका स्फटिक जैसा निर्मल पानी बिलकुल साफ व पारदर्शी लगता है, लेकिन इन्हें प्रदूषित कर देती है अम्लीय वर्षा। कनाडा की झीलें इसलिए भी प्रदूषित होती हैं, क्योंकि इनके प्रदूषण का 50 प्रतिशत कारण होता है ऑरगेनोहेलोजन व ऑरगेनोक्लोरीन। कम से कम ऑरगेनोक्लोरीन की पानी में उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता।

भारत की नैनीताल की नैनी झील हो अथवा माउंट आबू की नक्की झील या कश्मीर की डल झील—ये सभी पर्यटकों के नौका-विहार व नौका-विहार करते समय पानी में डाल दी गई खाद्य सामग्री के पैकेट्स से प्रदूषित हो ही जाती हैं।

नदियों के मुख के पास का त्रिकोणाकार प्रदेश हो या समुद्र का किनारा, इनके आसपास की जमीन खूब उपजाऊ होती है, लेकिन कभी-

कभी समुद्र के ज्वार-भाटे या तूफान इस क्षेत्र में तबाही भी मचा देते हैं। इन क्षेत्रों के उदाहरण हैं ऑल्विन, इरावती, सिंधु, टाइग्रीस, अफ्रेटस, नाईजर, जांबिया, ऐनेगल इत्यादि नदियां। उसी तरह निचले स्तर के समुद्र के किनारे बसे जकार्ता, बंबई, करांची तथा लागोत आदि महानगरों पर भी खतरा मंडराने लगा है।

पानी या वर्षाऋतु का अनाज उत्पादन पर सीधा असर पड़ता है। यदि वर्षा नहीं होती तो पूरे विश्व में 10 से 20 प्रतिशत अनाज कम पैदा होता है, जिसका असर करोड़ों मनुष्यो पर होता है।

पीने का पानी कम होते जाने से पूरे विश्व में लोग चिंतित हैं। अकेले कनाडा में तो दुनिया के एक चौथाई पीने के स्रोत हैं फिर भी चिंता वहां भी शुरू हो गई है। सन् 1980 से 1990 के बीच विश्व-जनसंख्या दुगुनी हो गई, जिसके लिए दुगुना पानी भी चाहिए। कल्पना करें कि विश्व के पीने का पानी एक टब में भरा रखा है और प्रतिवर्ष उसमें सिर्फ एक चम्मच पानी की बढ़ोत्तरी होती है, जबकि उसका उपयोग करने वाले प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। और हर घर में बड़ी बेदर्दी से पानी का इस्तेमाल किया जाता है।

द वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन के डायरेक्टर जनरल डेव्हिड मैकडवेल के अनुसार : ''इतिहास गवाह है कि बड़ी से बड़ी समस्याएं पानी की कमी के कारण ऐसे नष्ट हो गई जैसे कभी थीं ही नहीं। यही एक बड़ा कारण है जिससे हम सभी प्रयास करें कि सरकारों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया जाए।'' यह यूनियन इस बात को स्वीकारने लगी है कि पीने के पानी की गुणवत्ता कम होती जा रही है साथ ही, जरूरत को देखते हुए, पानी लगातार कम भी होता जा रहा है।

अमेरिका में भी अपने दक्षिणी भाग के पानी के लिए कनाडा से बात चल रही है। मध्य-पूर्व में किसान जॉर्डन नदी से अपने पानी की आपूर्ति करने के लिए प्रयासरत हैं। बंगलादेश एवं पाकिस्तान में भी भारत की तरह पानी की कमी है। अधिकांश वैज्ञानिकों का मानना है कि आज लोग जिस तरह बेफिक्र होकर राजनीति पर बात करते हैं; इक्कीसवीं सदी में वे

सिर्फ पानी पर ही बात किया करेंगे। राजनीतिक पार्टियों का चुनावों के समय पानी की आपूर्ति ही प्रमुख राजनीतिक हथियार होगा यानी कि उनका यह संभवत: सबसे महत्त्वपूर्ण चुनावी मुद्दा होगा।

डॉ. ओझा कहते हैं : ''आज भी बहुत-से ऐसे देश हैं, ऐसे लोग हैं जो यह नहीं जानते कि उन्हें पानी की विकट समस्या बड़ी तेजी से ग्रस रही है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर— हर देश की सरकार के स्तर पर— हमें पानी के संरक्षण की नई नीतियां बनानी होंगी। दूसरे शब्दों में कहें तो हम सबको एक 'नील आंदोलन' आरंभ करना होगा।

साफ पानी तो अपने बिलकुल शुद्ध रूप में ही जमीन पर बरसता है, किंतु मनुष्य इसमें इतनी गंदगी भर देता है कि यही पानी उसका दुश्मन बन जाता है। इसके अंदर पैदा होने वाले हानिकारक सूक्ष्मजीवी टाइफाइड, पीलिया व कालरा जैसी भयंकर बीमारियां फैलाते हैं।

शहर के औद्योगिक क्षेत्रों के पास की नदियां तो और भी प्रदूषित होती जा रही हैं। फैक्टरियों के पाइपों से गंदे रसायनिक पदार्थों से मिला पानी नदियों में मिलता है। उस क्षेत्र की सब्जियों व अनाजों का परीक्षण करें तो पाएंगे कि इसमें सीसा, केडमियम, क्रोमियम, पारा व निकल धातु की अधिक मात्रा पाई जाती है। आज के वैज्ञानिकों की चिंता है कि इन धातुओं को जमीन भी सोख रही है, तो जाहिर है, इससे जमीन के अंदर के पानी के स्रोत भी प्रदूषित होते जा रहे होंगे।

कुछ रसायन जमीन में क्षार की मात्रा बढ़ा देते हैं, जिससे उसकी उपजाऊ शक्ति क्षीण हो जाती है। वैज्ञानिकों के प्रयास से ही फैक्टरी मालिकों को निर्देश दिए गए हैं कि वह अपनी फैक्टरी में 'प्योरीफिकेशन प्लांट' लगाकर, फैक्टरी के कचरों तथा रसायनों से युक्त गंदे पानी को साफ करके ही नदी में जाने दें। यदि वे इस नियम का पालन नहीं करते तो पानी के प्रदूषण को रोकने के लिए सरकारी नियमानुसार फैक्टरी पर तालाबंदी भी की जा सकती है। पानी क्योंकि मनुष्य-जीवन की आधारशिला है, इसलिए इसे राष्ट्रीय संपत्ति कहा जाता है।

भारत का सौभाग्य ही है कि पिछले दस वर्षों से दक्षिण-पश्चिम

के मानसून मेहरबान हैं। पिछले वर्षों—सन् 1979-80 व 1986-87 ।षण अकाल पड़े थे।

पद्मविभूषण वैज्ञानिक श्री एम एस. स्वामीनाथन जब कृषि मंत्रालय में । सन् 1979-80 में पडे सूखे के दौरान मानसून प्रबंध के लिए कित नीति अपनाई गई थी :

हर जिले में 'क्राप वेदर वॉच ग्रुप' की स्थापना की गई, जिसमें मौसम-विशेषज्ञ, कृषि-वैज्ञानिक, किसानों के कुछ प्रतिनिधियों तथा कुछ महिला-संगठनों की भागीदारी थी। इसमें कुछ सरकारी अधिकारी, आर्थिक संस्थान व मीडिया के लोगों को भी शामिल किया गया। ये संगठन मानसून के आने व उसकी अनश्चितता तथा इसके एवज में की गई दूसरी फसल की तैयारी (जो कि बदले हुए मौसम में सही उत्पादन दे सके) के विषय में पूरी तरह सतर्क थे। इस दूसरी फसल के बीज पहले से ही तैयार रखने की जानकारी भी किसानों को दी जानी चाहिए।

हर जिले में ऐसे क्षेत्रों में, जो उत्पादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, सही कृषि-नीतियां बनाकर, अर्थ की संतुलित व्यवस्था करके, सिंचाई का विशेष ध्यान रखकर एवं पानी का सही प्रबंध करके खेती करनी चाहिए। ऐसे क्षेत्र को 'मोस्ट फेवरेबल एरिया' (एम.एफ.ए.) घोषित कर देना चाहिए।

ऐसे क्षेत्र जो सूखा या बाढ़-ग्रस्त होते हैं उन्हें 'मोस्ट सीरियसली इफेक्टेड' (एम.एस.ए.) घोषित करके वहां जानवरों की रक्षा के लिए कैंप की व्यवस्था होनी चाहिए। सूखा-पीड़ित क्षेत्र है तो पानी की सफाई कम से कम करके, उसे बहाना नहीं चाहिए।

ये तीन महत्त्वपूर्ण रास्ते हैं जिन पर चलकर किसानों को कृषि से न तकलीफों से उबारा जा सकता है। ग्रामीण गोडाउन स्कीम सन्) में बनाई गई, जिसमें फसल को एक जगह इकट्ठा कर सुरक्षित कर जाता था, ताकि जब पैदावार कम हो तो किसानों व उपभोक्ताओं को ीफ न हो।

डॉ स्वामीनाथन के अनुसार ग्रामीण पंचायत में कम से कम एक पुरुष तथा एक स्त्री को प्राथमिक कृषि-विज्ञान व मानसून-प्रबंध के बारे में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। उन्हें प्रशिक्षण के बाद क्लाइमेट मैनेजर का पद दे देना चाहिए। उस क्षेत्र के कृषि विश्वविद्यालय या कृषि शोध-संस्थान इन क्लाइमेट मैनेजरों को जरूरी जानकारी दे, जिससे वे अपने क्षेत्र में जाकर अतिवृष्टि या अनावृष्टि के दौरान खेतों को परिस्थिति के अनुसार ढालने की युक्ति कर सकें।

राष्ट्रीय आंकड़ो के अनुसार, गत वर्ष वर्षा समुचित मात्रा में हुई थी, किंतु अलग-अलग स्थानों के स्थानीये मौसम के कारण चार लाख टन केम अनाज उत्पादन हुआ। क्लाइमेट मैनेजर किसानों, महिला-संगठनों एवं कृषि-संस्थानों के बीच की कड़ी का काम करके इस पैदावार को बढ़ा सकते हैं।

पोखरण के परमाणु-विस्फोट ने दुनिया को दिखा दिया है कि राजनीतिज्ञों में इच्छाशक्ति हो तो वे वैज्ञानिक क्षमता का प्रयोग करके असंभव को भी संभव कर देते हैं। इसी तरह पंचायत के स्तर से पानी के उपयोग के समुचित प्रबंध से ही समुद्र को बांधा जा सकता है। हमारी पुरानी कहावत 'भारतीय कृषि मानसून का एक जुआ' से बदलकर यह भी जा सकती है—'भारत की कृषि-शक्ति पानी को बांधने की क्षमता में निहित।'

7

मनुष्य और वन्य जीवन

जमीन पर उछलते-कूदते नन्हे-मुन्ने खरगोश, पेड़ों पर सरपट दौडती गिलहरियां, जंगल में चिंघाड़ते हाथी, कुलांचें भरते हिरन, उन्मुक्त घूमते शेर-चीते हमारे वन्य जीवन की तसवीर को पूरा करते हैं।

जानवरों के साथ सह-अस्तित्व की बात हमारे विद्वान पौराणिक काल से ही करते रहे हैं, इसलिए जानवरों के माध्यम से अनेक बोध-कथाएं रची गई। मानव के अंदर मौजूद अलग-अलग गुणों की अनेक जानवरों के स्वभाव से तुलना की गई। सह-अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए हमारे देवताओं के वाहन भी कुछ जानवर ही बनाए गए हैं। यह बात भी प्रतीकात्मक है कि शेषनाग ही पृथ्वी का भार उठाए हुए हैं।

भगवान बुद्ध ने भी जानवरों पर दया करने के उपदेश दिए हैं, क्योंकि उनका विश्वास था कि जीव-हत्या पाप है।

"आज जो भी वैज्ञानिक या दूसरे लोग कुछ जानवरों के जीवन के संरक्षण के लिए आंदोलन चला रहे हैं, वे परोपकार या दयाभाव से ओतप्रोत नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य सबसे बुद्धिमान प्राणी है और उसका दृष्टिकोण नितांत आत्मकेंद्रित है। अपने जीवन एवं अपने स्वास्थ्य के लिए प्रकृति व जानवरों का किस तरह उपयोग किया जा सकता है, उसकी बुद्धि इसी बात पर केंद्रित रहती है। उसके सारे वैज्ञानिक शोध की आधारशिला भी यही है।"—यह कहना है, डॉ. जी.एम. ओझा का।

वे बताते हैं वनस्पति और जीव जतु हमारे बिना रह सकते हैं

डॉ. जी.एम. ओझा से जानवरों के बारे में जो जानकारी मिली, वह बहुत दिलचस्प है। उनके अनुसार, कुछ लोग सांपों के संरक्षण के लिए काम कर रहे हैं। वे कहते हैं—सांपों को छेड़ना नहीं चाहिए। यदि सांप को छेड़ा न जाए तो वह काटता भी नहीं है। सांप का आहार चूहे हैं और चूहे खेतों में बिल बनाकर उन्हें बरबाद करने में माहिर हैं। यदि एक नर व एक मादा चूहे को स्वतंत्र छोड़ दें, तो वे वर्ष-भर में साठ चूहे तैयार कर सकते हैं। इससे कल्पना की जा सकती है कि यदि सांप न होते तो पृथ्वी पर चूहों का ही राज्य होता!

जंगल के वृक्षों का हमारे घरों के फर्नीचर से सीधा रिश्ता है। उनके भारी-भारी तनों को ले जाने का काम हाथी जैसा शानदार, शक्तिशाली जानवर करता है। हमारे लकड़ी के व्यापार का आधार है हाथी, तो उसे कैसे नष्ट हो जाने दें? फिर भी कुछ लोग चुपके-चुपके हाथी को मारने का षड्यंत्र रचते हैं, क्योंकि हाथीदांत मुंहमांगे दाम में बिक जाता है।

ऑक्सीजन के बिना हमारे जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। यह प्राणदायिनी ऑक्सीजन हमें जमीन के वृक्षों से अधिक समुद्र में उगी छोटी-छोटी वनस्पतियों से मिलती है। मजे की बात यह है कि समुद्र की एक विशेष जाति की मछलियां सिर्फ यही पेड़-पौधे बड़े शौक से खाती हैं। उधर समुद्र के मगर साहब इन्हीं मछलियों को खाने के शौकीन होते हैं; जो मछलियां मनुष्य के खाने के काम में आती हैं, उनकी तरफ वे आंख उठाकर भी नहीं देखते। मतलब, आप जो ऑक्सीजन अपनी सांसों में भर रहे हैं और अपनी प्लेट में जो तली हुई मछलियां खा रहे हैं, उसके लिए मगर साहब को 'थैंक्यू' कहना मत भूलिए। इन्हीं कारणों से लोग मगर का जीवन बचाने में जुटे हुए हैं। कछुए समुद्र और नदी को प्रदूषण से बचाने में लगे हैं। केंचुए जमीन में अपने बिल बनाकर उसमें हवा जाने का रास्ता बनाते हैं। यही काम मेढक व चिड़ियां खेतों के कीड़ों से बचाने के लिए करते हैं। सांप ही तो चूहों की जनसंख्या नियंत्रण में रखते हैं!

लेकिन पैसा कमाने वाले मनुष्यों को आपके भले की चिंता नहीं है, क्योंकि मगर की खाल बाजार में आसमान के भाव बिकती है, जिससे

पुरुषों की बेल्ट या पर्स बनाए जाते हैं।

रेगिस्तान का यातायात तो ऊंटों पर ही निर्भर है। घोड़ों की भूमिका तो सबको ज्ञात है। यदि गिद्ध नहीं होते तो अनगिनत लावारिस जानवरों की लाशों को कौन ठिकाने लगाता?

आप जो रोटी, चावल, दाल प्रतिदिन बहुत ही चाव से खाते हैं, यदि शेर साहब जंगल में अपना कडा अनुशासन न बनाए रखे होते तो आपको ये चीजें खाने को नहीं मिलती— होता यह कि हिरनों के झुंड के झुंड खेतों में घुसकर पूरी फसल नष्ट कर डालते। उधर शेर साहब इन्हीं हिरणों की फिराक में रहते है। जब जी में आया, झुंड के पीछे से किसी हिरण पर झपट्टा मारा और पेट भर लिया। ये हिरणों की जनसंख्या का संतुलन बनाए रखते हैं। यदि ये न होते तो ससार में इतने हिरण होते कि अनाज उगाना मुश्किल हो जाता। शेर साहब की इन्हीं मेहरबानियों को देखकर जिम कॉर्बेट पार्क एवं कान्हा सहित बारह ऐसे पार्क भारत के वन्य जीवन संस्थान ने निश्चित किए हैं, जहां शेर आराम से रह सकते हैं।

पहले तो चीते की खाल हाथोहाथ बिक जाती थी, किंतु बाद में यूरोप व अमेरिका में इसके विरोध में आंदोलन चलाए गए, तब इसका बेचा जाना बंद हुआ। लेकिन आजकल एक और जटिल समस्या पैदा हो गई है—चीन व जापान में चीते की हड्डियां दवाइयों में मिलाई जाती हैं। चीन में तो इनकी संख्या सौ के लगभग है, किंतु ताइवान में चीते नहीं पाए जाते। अब हड्डियां हासिल करने के लिए क्या किया जाता होगा— आप अनुमान लगा सकते हैं।

चीते के खाल की स्मगलिंग करना तो कठिन काम है, क्योंकि ये पहचान ली जाती हैं, हां, इसकी हड्डियों को दूसरे जानवरों की हड्डियों के साथ मिलाकर बाहर ले जाया जा सकता है।

क्या आप खट्टे-मीठे फलों के बिना किसी मौसम की कल्पना कर सकते हैं? क्या आप गर्मियों में आमों के रस का लुत्फ उठाए बिना गुजर कर सकते हैं? नहीं न! केले, अनन्नास, आम आदि एक ऐसे जानवर की मेहरबानी हैं, जिसका नाम लेते ही आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। किसी

डरावनी फिल्म का भुतहा खंडहर याद कीजिए—हीरो या हीरोइन से टकराकर पंख फड़फडाता चमगादड़। यदि यह किसी घर के पास से भी निकल जाए तो अपशकुन माना जाता है। पर अपने सिर मनहूस होने की, डरावना होने की तथा भूत-पिशाच का एजेंट होने की तोहमत लगे होने पर भी वह एक निर्लिप्त समाज-सेवी की तरह समाज-सेवा करता ही जा रहा है। फलों के पेड़ों से फूलों के परागकणों को इधर-उधर वितरित करके यह फलों की पैदावार को बढ़ाने में सहायता कर रहा है। जिन देशों में चमगादड़ों की संख्या लुप्तप्राय है, उन्ही देशों में ये फल भी समाप्त हो रहे हैं। उनको दूसरे देशो से इन फलों का आयात करना पड़ रहा है, इसलिए उन देशों में 'सेव द बैट्स लाइफ' का नारा बुलंद हो रहा है।

पृथ्वी पर कुछ ऐसे जानवर हैं जिनकी जनसंख्या घटती जा रही है और उनके लुप्त हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। ऐसे जानवरों के संरक्षण के लिए 'विश्व-वन्य निधि' (डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ.) तथा अन्य संगठन बराबर प्रयास कर रहे हैं। ये संगठन महिलाओं से अपील करते रहे है कि वे चीते, तेंदुए, खरगोश, मगर आदि जीवों की त्वचा के बने पर्स, हैट अथवा कोटों का प्रयोग न करें।

अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वनस्पतिशास्त्री डा. जी.एम. ओझा अपनी संस्था 'इनसोना' (इंटरनेशनल सोसाइटी आफ नेचरलिस्ट) वडोदरा, द्वारा पिछले 10 वर्ष से जानवरों को संरक्षण देने का संदेश दुनिया-भर में प्रसारित कर रहे हैं। 10 वर्ष पूर्व इन्होंने जानवरों के स्टिकर दुनिया-भर में वितरित करने का अभियान चलाया था, जिन पर लिखा होता था 'सेव द बायोस्फियर' अर्थात् पृथ्वी के जीवमंडल की रक्षा करो। इस अभियान का सारे विश्व में स्वागत ही नहीं हुआ, बल्कि भारत सहित कुछ अन्य देशों में इसका अच्छा असर भी हुआ।

डॉ. ओझा ने 20 वर्ष पूर्व कश्मीर की वादियों में विचरने वाले कश्मीरी हिरण यानी 'हंगुल' की घटती हुई जनसंख्या को देखकर इनके संरक्षण का बीड़ा उठाया था। इन्होंने वहां जाकर शोध करके पता लगाया कि इस स्थान पर मिलने वाली एक विशेष वनस्पति इनका भोजन है और

वह वनस्पति उस स्थान पर मरती जा रही थी, इसी कारण हगुल की सख्या भी घट रही थी। डा. ओझा के सुझाव पर ही जम्मू-कश्मीर की सरकार ने इस प्रजाति के और पौधे लगाए और वहां भेंड़े चराने पर प्रतिबंध लगा दिया। 20 वर्ष में ही हंगुल हिरणों की संख्या 60 से बढ़कर 650 हो गई है। यू.एन ओ ने इस काम के लिए मानपत्र भी दिया है।

कुल्लूवासी अकसर अपनी टोपी में एक पंख लगाए रखते हैं। यह पख होता है कुल्लू में पाए जाने वाले पक्षी 'मोनाल' का। मोनाल की त्रासदी यही है कि उसका पंख ही उसकी मृत्यु का कारण बनता है, क्योंकि लोग यह पंख पाने के लिए उसकी हत्या कर देते हैं।

हिमालय की चोटियों में सिर्फ लद्दाख में बर्फ का तेंदुआ पाया जाता है। एक अनुमान के अनुसार, इनकी जनसंख्या सिर्फ 4 दर्जन है। बर्फ पर तेज गति से भागता तेंदुआ सुंदरता की स्वयं एक मिसाल है, लेकिन इसकी यही सुंदरता इसकी जान की दुश्मन है। लोग इसकी खाल के कोट पहनते है या पूरी की पूरी खाल को अपने कक्ष में सजाते हैं। इनका मूल्य 5 हजार रुपये से 50 हजार रुपये तक कुछ भी हो सकता है। यदि इस अनूठे जानवर को बचाने का प्रयास नहीं किया गया तो आगे की पीढ़ियों के पास सिर्फ इनके चित्र रह जाएंगे।

उत्तर-पूर्व की नदियां गंगा और ब्रह्मपुत्र घडियाल का घर हैं। घड़ियाल 6 मीटर तक लंबे होते हैं। इनके आरी जैसे दांत आसपास की मछलियो को खाकर पानी को प्रदूषण से बचाते हैं। पर इनकी जान का दुश्मन इनसान ही बन जाता है—इनकी त्वचा के लालच में।

वन के अछूते सौदर्य में चार चांद लगाता है हॉर्नबिल। दुनिया-भर मे इसकी 45 प्रजातियां अफ्रीका, एशिया तथा दक्षिणी प्रशांत के द्वीपों में फैली हुई हैं। भारत में यह गोंडा के जंगलों में पाया जाता है।

हार्नबिल का भोजन है ट्रॉपिकल जंगलों में उगने वाला अंजीर। इनके जीवन की सुरक्षा करनी है तो हमें अंजीर के पेड़ों का लगातार रोपण करना पड़ेगा।

जब 1969 में फ्रांस के निवासियों ने एक स्तनधारी विशेष पशु को

पहली बार खोजा था तो दुनिया समझी थी कि यह भालू के परिवार का है, लेकिन बाद में पता लगा कि यह लाल पांडा का ही भाई-बंधु हैं। यह आकर्षक स्तनधारी पशु चीन व कुछ यूरोपीय देशो में पाया जाता है। बांस का तना इसका मुख्य भोजन है। पांडा को जिंदा रखने का मतलब है लोग बांस के जंगल अधिकाधिक लगाए जाएं। पांडा की जनसंख्या इतनी कम है कि कहीं किसी चिडियाघर में जब इसका जन्म होता है तो वह अंतरराष्ट्रीय खबर बन जाती है।

नन्ही-मुन्नी तितलियां व चिडियां भी परागकणों को इधर से उधर पहुंचाती हैं। इनके माध्यम से परागकण दूसरी जगह पहुंचकर, नियंत्रित होकर पेड़-पौधे में परिवर्तित होने लगते हैं और आपके लिए फल-फूल तैयार करने लगते है। इस तरह स्पष्ट है कि हम पौधों तथा जीव-जंतुओ से किस तरह जुड़े हुए हैं।

अपनी लंबी, गुलाबी-भूरी टांगों से रूई के बादलों की तरह उडान भरते सारस किसका मन नहीं मोह लेते! इन सारसों का घर होती है नम व खूबसूरत जमीन। नदी के किनारे की जमीन सारस के लिए ही नहीं, मनुष्य के लिए भी उपयोगी है। सारस इतने खूबसूरत व लंबे होते हैं कि वन्य जीवन की रक्षा करने वाले बहुत-से संगठनों ने अपने प्रतीक-चिह्न में इनका उपयोग किया है। भारत का प्रसिद्ध मुहावरा 'बगुला भगत' इन्हीं की देन है।

विश्व में सारस की पंद्रह जातियों में से सात जातियों के विलुप्त होने का खतरा हो रहा है, क्योंकि मनुष्य इनकी नम भूमि पर खेत, गांव व सड़क बना देते हैं। इनका शरीर बड़ा होता है, इसलिए शिकारियों से ये अपने को छिपा पाने में असमर्थ हैं। यह नम भूमि ही होती है जिनके नीचे की चट्टानों की दरारों व गड्ढों में वर्षा का पानी इकट्ठा होता जाता है। बाकी पानी धीरे-धीरे बहता हुआ आसपास की झीलों व तालाबों में चला जाता है। इसी नम भूमि में उगी वनस्पति तथा कीड़े सारस को भोजन देते हैं और रहने के लिए शरण भी, इसीलिए अंतरराष्ट्रीय नारा दिया गया है : "नम जमीन का रक्षण करो यदि सारस को बचाना है!" सन् 1973 से ही

विस्कॉंसिन (अमेरिका) में इनके संरक्षण के लिए 'क्रेन फाउंडेशन' गठित हो गया था।

हमारे आसमान का नीला रंग जिनकी उड़ानों से भरा रहता है, जिनकी सुंदर चहचहाहट से प्रातः हमारी नींद टूटती है, जिनके अलग-अलग रंग और फडफडाते पख हमारे जीवन को उत्साहित करते हैं, उन नन्हीं जानों को लालची लोग मारकर या पकडकर स्मगलिंग करते हैं। विशेषकर बिहार व हिमालय पर्वत, उत्तरप्रदेश, में। अकसर ये सारस पक्षी उड़ीसा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र व आसाम के जंगलों व खेतों में अपने झुंड के साथ मंडराते रहते है।

भारत पक्षियों का निर्यात करने वाले अग्रणी देशों में से एक है। लेकिन जो लोग इन्हें खरीदते हैं दुर्भाग्य से उन्हें इनकी देखभाल करना नहीं आता। इनमें से कुछ चिड़ियां मर जाती हैं, बाकी पिंजड़े के पीछे दमघोंटती जिंदगी बसर करती है। यह चिड़ियों का व्यापार क्या, वास्तव में पक्षियों का रुदन-संगीत है।

भारत में सन् 1970 में ही श्री मोरारजी देसाई ने इनके निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया था, जबकि न्यूयार्क के गवर्नर ने सन् 1986 में जंगली पक्षियों के आयात पर प्रतिबंध लगाया।

पक्षियों से हटकर अब कुछ बात शार्क जैसे विशालकाय प्राणी की : प्राचीन समय में शार्क मछली को कभी भगवान समझा गया था, कभी किसी पैशाचिक शक्ति की मालिक। 'शार्क' एक जर्मनी शहर के नाम 'शुर्क' से बना है। 'शुर्क' का मतलब ही होता है विलेन। 'जॉज' जैसी फिल्मों ने भी इसी बात की पुष्टि की है। पूरे विश्व में इसकी 350 जातियां हैं, जिनमें से सिर्फ बारह जातियां मनुष्य के लिए खतरनाक हैं। इनकी सबसे बड़ी जाति है व्हेल शार्क।

एक शार्क मछली एक वर्ष में—पूरे विश्व में—लगभग पच्चीस व्यक्तियों को मार देती है, जबकि हाथी इससे दसगुना लोगों की मौत का कारण बनता है। पूरे एक करोड़ शार्क प्रति वर्ष मार डाली जाती हैं।

शार्क समुद्री परिस्थिति का एक विवादास्पद प्राणी है। डार्विन के

'सरवाइवल फॉर द फिटेस्ट' के सिद्धांत पर ये समुद्री जनसंख्या पर नियंत्रण रखती हैं। ये मेडिकल रिसर्च के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। वैज्ञानिक आशावान हैं कि वे शार्क की उपस्थि (कार्टिलेज) से कैंसर-निरोधक दवा बनाने में कामयाब होंगे। शार्क का लिवर बहुत कुछ मनुष्य से मिलता है, इसलिए लिवर की बीमारियों के लिए चिकित्सा-संबंधी शोध शार्क पर किए जा रहे हैं।

शार्क के जीवन के लिए खतरा बन रही हैं पश्चिमी देशो के होटलो मे शार्क से बने लजीज व्यंजनों की प्लेटें, जिनकी कीमत पद्रह से बीस डॉलर तक होती है। न्यूयार्क में इसका मटन पांच डालर प्रति पाउंड बेचा जाता है। हांगकांग, चीन व ताइवान, सिंगापुर, श्रीलंका तथा फिलीपाइंस में शार्क के फिन के एक सूप बाउल का मूल्य साठ डॉलर तक हो सकता है।

शार्क की खाल का इस्तेमाल जूते, पर्स, थैले व बेल्ट बनाने में धडाधड किया जा रहा है। शार्क के दांतों से गहने भी बनाए जाने लगे है। अमेरिका में मछलियों के लिए शार्क टूर्नामेंट की लोकप्रियता जोरों पर है। शार्क की संख्या समुद्र में कम न हो तथा लोगों की जरूरतें पूरी होती रहें, इसके लिए वहां 'नेशनल मेरीन फिशरीज सर्विस' का गठन किया गया है जो कि अन्य देशों के लिए मॉडल है। जीवमंडल के इस महत्त्वपूर्ण प्राणी के लिए लोगों को जागरूक किया जाता है कि वह इसे निर्मम हत्यारा न मानें। पृथ्वी पर इनका जन्म डायनासोर से दो करोड़ वर्ष पूर्व का माना जाता है। मनुष्य को ही अब इसे संरक्षण देना होगा, जिससे कहीं ये डायनासोर की तरह ही कहानी व फिल्म-भर बनकर न रह जाएं।

सिंगापुर की 'वर्ल्ड सोसायटी फॉर द प्रोटेक्शन ऑफ एनीमल' के सलाहकार निर्देशक मर्जरी डॉगेट के अनुसार, जंगली जानवरों का पुनर्वास करना बेहद कठिन व खर्चीला है। सबका पुनर्वास तो लगभग असंभव ही है। इनको बहुत-से कारणों के लिए पकडा जाता है। कुछ लोग अपने रेस्तरा व शराबघरों में इन्हें मनोरंजन के तौर पर रखते हैं। जू व सर्कस में भी ये मनोरंजन करते हैं। कुछ समुद्र-तटों के फोटोग्राफर भी पर्यटकों का

ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए इन्हें रखते हैं। अब तो लोगों को पता लग गया है कि जंगली जानवर बड़े होकर घर के अच्छे पालतू पशु नहीं बन सकते, न ही बडे होकर वे फिर जंगलों में अपने ही समुदाय के जानवरों मे घुल-मिल पाते हैं, वरना हमारे घरों में बच्चे इनके कान खींच रहे होते या आंख में उंगली डाल रहे होते।

पश्चिमी अफ्रीका में किए गए एक सर्वे के अनुसार, शिकारियो के अत्याचारों के कारण वहां के जंगलों में चिंपांजी की संख्या 80 प्रतिशत घट गई है। हर देश के जंगल इतने घने व विस्तृत हैं कि जानवरों की रक्षा के लिए कंटीले तारो की सीमा बनाना, जगह-जगह वन विभाग के ऑफिस खोलना तथा इन जानवरों के लिए भोजन व चिकित्सा की समुचित व्यवस्था करना मुश्किल होता है। विकासशील देश तो मनुष्यों के लिए भी यह व्यवस्था करने में अभी तक सक्षम नहीं हो पाए हैं। पशु-चिकित्सक भी हर प्रकार के पशु की चिकित्सा में दक्ष नहीं होते। उनमें से अधिकतर जगल के आसपास रहना भी पसंद नहीं करते। जंगल में आग लगने से या सूखा पडने से सबसे अधिक वहां के पशुओं को पुनर्वास की आवश्यकता होती है। जंगलों में जानवरों के लिए संरक्षित क्षेत्र वैसे तो पूरे विश्व में हैं, किंतु अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया व अमेरिका में सबसे अधिक हैं।

आम नागरिक का इनके संरक्षण के लिए यही कर्तव्य है कि वह कम से कम इन्हें सताएं नहीं और आसपास किसी पशु के बीमार होते ही उसकी चिकित्सा की उचित व्यवस्था करें।

8

जैविक विविधता का संरक्षण

पृथ्वी का बॉयोस्फेयर या जीवमंडल जीवों की असीमित विविधता से भरा हुआ है। पौधों, जलचर, थलचर व नभचर की करोड़ों जातियां-प्रजातियां हैं। इनकी भी बात छोड़ दें तो मनुष्य ही अलग-अलग जलवायु के कारण अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग व्यक्तित्व के मालिक होते हैं। एक ही तरह के पौधे की, एक तरह के जानवर की अनेक प्रजातियां होती हैं। हम इसे 'बॉयोडाइवर्सिटी' या जैविक विविधता भी कह सकते हैं। जैविक विविधता की बात जब हम करते है तो इसमें वनस्पति तथा जीव-जंतु तो आते ही हैं, इसमें जीवावरण की प्रत्येक वह चीज भी शामिल है जो जीवन देने वाली है। अर्थात् इसमें पूरा का पूरा 'इकोसिस्टम' भी सम्मिलित है। और हां, सूक्ष्म जीवाणु भी इसी का अंश हैं। जैविक विविधता को यदि एक छत्ता मान लिया जाए तो इसमें ये सब जीव शामिल हैं।

पृथ्वी पर विविध जीवों की जाति-प्रजातियों की संख्या अनुमानतः कम से कम पचास लाख से तीन करोड़ तक होगी। इन असंख्य प्राणियो में से कुल सत्रह लाख प्राणियों की जानकारी मानव की पुस्तकों में है। पृथ्वी के अधिकांश जीव (75 से 90 प्रतिशत तक) घने वनों में रहते हैं।

एक अनुमान के अनुसार, ट्रॉपीकल फॉरेस्ट पृथ्वी की अधिकांश जमीन को ढकते हैं। पूरी पृथ्वी की आधी जैविक विविधता इन्हीं जंगलों में समाई हुई है। वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार, प्रतिवर्ष सत्रह लाख हेक्टेयर जमीन पर अर्थात् स्विटजरलैंड के क्षेत्रफल से चौगुनी भूमि पर स्थित जंगल नष्ट होते जाते हैं। जंगल कितने ही जीवों का घर है। इसके नष्ट होते ही इसमें बसे प्राणी इधर-उधर भागकर शरण लेते हैं। इस

उथल-पुथल में कितनी ही वनस्पति, कितने ही जीव स्थायी रूप से विलुप्त हो चुके हैं, जिनका नाम-भर शेष ही रह गया है। यूरोप मे तो अधिकतर वन्य जीवों की अपनी प्रजातियां ही बची हैं, मूल जातियां विलुप्त हो चुकी हैं, जो कि बीसवीं सदी के आरंभ में वहां थीं।

इंडोवेस्ट पैसिफिक महासमुद्र के हार्बर में मछलियों की लगभग पंद्रह सौ जातियां पाई जाती हैं जबकि पूर्वी एटलांटिक में दो सौ अस्सी। यह जैविक विविधता का बहुत अच्छा उदाहरण है।

तीन करोड वर्षो से पृथ्वी पर जैविक विविधता बढ़ती जा रही है, और कुछ जातियो का विलुप्त होना भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रकृति ही स्वयं चुनाव करती है कि वह किसे रखे, किसे न रखे। उसकी यही प्रक्रिया इवोल्यूशन का इंजन है। एक प्रजाति जब भी विलुप्त होने लगती है, तो उसी की तरह की दूसरी प्रजाति—या सही शब्दों में कहें तो उससे बेहतर प्रजाति पृथ्वी से पोषक तत्त्व लेकर उससे सशक्त हो जाती है और प्राकृतिक रूप से पहले वाली नष्ट होती जाती है। एक अनुमान के अनुसार, पृथ्वी पर आरंभिक काल में जीवों की जो प्रजातियां थीं, उनमें से 99 प्रतिशत विलुप्त हो चुकी हैं।

यदि एक बार किसी भी जीव की एक प्रजाति पृथ्वी से विलुप्त हो जाती है तो पृथ्वी का कोई बड़े से बड़ा खजाना भी उसे वापस पृथ्वी पर नहीं ला सकता। एक बार जो प्रजाति नष्ट हुई, वह सदैव के लिए नष्ट या विलुप्त हो जाती है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए ब्राजील में जून 1992 में अंतराष्ट्रीय संगठन ने पर्यावरण व विकास पर एक सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें जैविक विविधता के संरक्षण के लिए संधि की। उस संधि पर 150 पचास देशों ने हस्ताक्षर किए। अब इनकी संख्या 170 हो गई है। भारत में 23 दिसंबर 1993 से बॉयोडाइवर्सिटी कनवेंशन लागू किया गया।

प्रकृति में मनुष्य के हस्तक्षेप के कारण—जैसे जंगल काटकर उद्योग लगाना—इस जैविक विविधता को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंच रहा है। कुछ विशेषज्ञों की राय है कि एक मनुष्य के जीवनकाल में 25 प्रतिशत प्रजातियां विलुप्त हो जाती हैं। अमेरिका के नेशनल साइंस फाउंडेशन की

एक रिपोर्ट के अनुसार, अगले चालीस वर्षों में प्रजातियों के विलुप्त होने की दर आम दर से लगभग हजार गुना अधिक हो जाएगी।

तो इस जैविक विविधता की सुरक्षा क्यों करनी चाहिए? डॉ जी.एम ओझा कुछ उदाहरण देते हैं : "दुनिया का चौथा बडा टापू मेडागास्कर है, जो कि दुनिया की दवाइयों का खजाना कहलाता है। वहां के वैज्ञानिक ऐसे सैकड़ों पौधों का अध्ययन कर रहे हैं, जिनको वहां के लोग प्राचीनकाल से औषधियों की तरह प्रयोग में लाते रहे हैं। कनाडा के वैज्ञानिको ने ऐसे गेहूं पैदा किए हैं, जिनमें अलग-अलग देशों के चौदह जीन्स है। पूर्वी मेडागास्कर में कॉफी की ऐसी प्रजाति खोज ली गई है, जिसे खेतों में फसल के साथ लगा दिया जाए तो फसल में फफूंदी रोग लगने का डर नहीं रहता। इसी क्षेत्र के रोजी पेरीविन्कल पौधे का बच्चों की ल्यूकेमिया व अन्य बीमारियों में प्रयोग किया जाता है।

मेडागास्कर टापू के अलावा भी पृथ्वी के अन्य क्षेत्र हैं, जिनमें सबसे अधिक वनस्पति जैविक विविधता पाई जाती है—जैसे उत्तर पश्चिम इक्वेडोर, पश्चिम अमेजन, दक्षिण-पश्चिम आइवरी कोस्ट, पूर्व तजानिया, दक्षिण-पश्चिम भारत, दक्षिण-पश्चिम श्रीलंका, पूर्व हिमालय-विस्तार तथा फिलीपाइंस।

पृथ्वी के सभी जीवों को यही जैविक विविधता भोजन देती है। इसको नष्ट करने में सबसे बड़ा हाथ है रासायनिक प्रदूषण, विदेशी पौधों की पैदावार तथा प्राकृतिक आपदाओं का। विश्व-पोषण दिवस 1993 पर अंतरराष्ट्रीय संगठन के 'फूड एंड एग्रीकल्चर आर्गनाइजेशन' ने यह नारा दिया था—'प्रकृति व विविधता को उगाइए क्योंकि मानव-जीवन के लिए जैविक विविधता बहुत आवश्यक है।'

अक्तूबर 1993 में बहुत-से देशों का जेनेवा में एक अधिवेशन हुआ। सभी देशों ने एक संधि की, जिसके तीन मुख्य उद्देश्य थे :

- जैविक विविधता का सभी देश संरक्षण करें।
- जैविक विविधता के अंतर्गत इसके पौधों, जानवरों व अन्य जीवों क उचित मात्रा में प्रयोग हो।
- जो जेनेटिक रिसर्च हो, उसकी आपस में जानकारी दी जाए व उनका सही प्रयोग हो।

अब यह देखा जाए कि भारत में जैविक विविधता के संरक्षण के लिए क्या किया जा रहा है?

दिसंबर 1993 में मद्रास के एम.एस. स्वामीनाथन रिसर्च फाउंडेशन (एम.एस.एस.आर.एफ.) में कुछ वैज्ञानिक, कानूनदां, मीडिया के प्रतिनिधि एवं कृषि-विशेषज्ञ आ जुटे। इन सबने मिलकर एक 'नेशनल बायोडाइवर्सिटी एलाइंस' बनाया जो कि सन् 1994 से इस दिशा में तेजी से काम करने लगा कि भारत के कौन-से क्षेत्र जैविक विविधता की दृष्टि से समृद्ध व उपयोगी हैं तथा उन्हें कैसे संरक्षित किया जाए।

ये छः संरक्षित क्षेत्र उनके संयोजक के नाम के साथ ये हैं— आसाम में मानस वर्ल्ड हेरीटेज साइट (श्री देवराय), उड़ीसा में मीटरकनिका (श्री सी.आर दास), राजस्थान की दुधवा टाइगर सेंचुरी व नेशनल पार्क (श्री वाल्मीकि थापर), गुजरात का कच्छ नेशनल पार्क (प्रोफेसर जी.एम. ओझा श्री लवकुमार व श्रीमती प्रीति नंबियार), तमिलनाडु का 'गल्फ आफ मनार मेरिन नेशन पार्क' (डॉ. संजय देशमुख व श्री जी. वेंकटरमानी) तथा तमिलनाडु व केरल का नीलगिरि बायोस्फेयर रिजर्व एरिया (डॉ. वी.एस. विजयन व श्री बी.जे. कृष्णन)। तब इस नेशनल बायोडाइवर्सिटी एलाइंस के चेयरमेन डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन ही बनाए गए।

इस संगठन का मुख्य ध्येय तो यही था कि यह सरकार की उन नीतियों का विश्लेषण करे जो कि इन स्थानों की जैविक विविधता पर प्रभाव डालती हैं।

दुनिया में वनों व उद्यानों का संरक्षण आवश्यक है क्योंकि इनकी हरीतिमा, झरने, प्राकृतिक सौंदर्य मनुष्य में कलात्मक अभिरुचि पैदा करते हैं। ये ही हमारे लिए आर्थिक स्तंभ भी हैं। ये पर्यटन को बढावा देते हैं, इनमें असीम वैज्ञानिक खोजों की संभावनाएं छिपी हुई हैं।

डॉ. जी.एम. ओझा के अनुसार : "हमारे ये वन-उपवन प्रकृति की छोटी-छोटी प्रयोगशालाएं हैं, जहां निरंतर एक प्राकृतिक शोध चलता ही रहता है, जिससे मानव को फायदा पहुंचे। यदि जैविक विविधता ही मानव-जीवन का मुख्य तत्त्व है तो यह भी सच है कि जीवन की इस विविधता की रक्षा के लिए हमें कुछ न कुछ मूल्य तो देना ही होगा।"

9

राष्ट्रीय उद्यान एवं अभयारण्य

आज विश्व-बाजार तथा आम आदमी भी उपभोक्ता-संस्कृति की चपेट में आ चुके हैं। असंख्य वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है। इनका व्यापार हो रहा है। इस अंतरराष्ट्रीय आर्थिक बहाव के लिए उत्तरदायित्व है विज्ञान व तकनीकी का। अब तो सूचना प्रौद्योगिकी ने भी समस्त विश्व को एक घर बना दिया है। इससे दुनिया में मजदूरों के प्रवास में, चाहे वह कानूनी हो या गैरकानूनी, एक तेजी आई है। इस आधुनिक बदलाव के मुख्य प्रणेता हैं—समृद्ध व्यापारी, फाइनेंस कंपनी के संस्थापक, बहुराष्ट्रीय कंपनी के मालिक, केंद्रीय सरकारें, अंतरराष्ट्रीय संघ तथा इनकी शाखाएं।

इस उपभोक्ता-संस्कृति के कारण वन कट रहे हैं, कृषि के लिए उपयोगी उपजाऊ जमीन बेची जा रही है अर्थात जीवमंडल के प्राकृतिक पारिस्थितिकी समुदाय के स्थान पर मनुष्य द्वारा बसाया तंत्र स्थापित हो रहा है। इससे प्रकृति पर जोर पड़ रहा है। इसकी बुरी तरह क्षति हो रही है। यदि यह सब इसी तरह चलता रहा तो कुछ वर्षों में ही यह संस्कृति सोने की द्वारका की तरह अपने ही लोगों द्वारा विध्वस्त कर दी जाएगी।

आस्ट्रेलिया के अर्थशास्त्री क्लेम टिसडैल के अनुसार : "यदि अपने जीवमंडल को बचाना है, जैविक विविधता की रक्षा करनी है तो राष्ट्रीय उद्यान बनाने के साथ ही, जहां जैविक विविधता सबसे अधिक है, उन क्षेत्रों को भी संरक्षित क्षेत्र घोषित करना ही होगा। इस काम के लिए विकसित देशों को ज्ञान के साथ-साथ आर्थिक स्तर पर भी विकासशील देशों की सहायता करनी चाहिए; क्योंकि यदि एक देश विकसित श्रेणी में आ जाता

है तो उसकी सरकार पर यह निर्भर है कि वह वहां के पर्यावरण-संरक्षण पर कितना ध्यान दे रही है। विकासशील देशों के लिए आई.एम.एफ. (इंटरनेशनल मॉनीटरी फंड) एवं वर्ल्ड बैंक को भी राष्ट्रीय पार्क व वन-संरक्षण के लिए धन देना चाहिए।

आधुनिक व्यवस्था में सरकारें संरक्षण के लिए कर्मचारी रखने में हिचकिचाती है। वे चाहती हैं, जितना आर्थिक उत्पादन हो उतने ही कर्मचारी रखे जाएं, जबकि विशाल वनों या राष्ट्रीय उद्यानों के लिए अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है।

सन् 1872 में अमेरिका में प्रथम राष्ट्रीय उद्यान मेलोस्टोन स्थापित किया गया था। सन् 1990 तक कनाडा, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैंड में राष्ट्रीय उद्यान बनाए जा चुके थे। भारत के कश्मीर से लेकर अन्य शहरों में स्थित मुगल गार्डन भी वर्षो से जैविक विविधता की रक्षा करते रहे हैं और अपनी सुंदरता के कारण पर्यटकों को आकर्षित करते रहे हैं।

सर्वप्रथम अमेरिका में 30 जून 1962 को प्रथम विश्व कांग्रेस का सम्मेलन हुआ जो कि राष्ट्रीय उद्यान-संबंधी था। इससे विश्व-भर में इस योजना पर काम करने की लहर उठी।

इस संबंध में दूसरी कांग्रेस भी अमेरिका में विश्व के प्रथम राष्ट्रीय उद्यान की शताब्दी वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में 1972 में हुई, जिसमें दुनिया-भर के लोगों ने उत्साह से भाग लिया। उसमें चर्चा हुई इन मुख्य मुद्दों पर—पर्यटन का उद्यानों पर प्रभाव तथा इनके प्रबंध में होने वाली समस्याएं।

अमेरिका का प्रथम राष्ट्रीय उद्यान बनाने का तो यही उद्देश्य था कि जमीन के टुकड़े को एक सुंदर स्केप में बदला जा सके व लोगों को शिक्षा दी जाए कि वे दुर्व्यवस्था व गंदगी पार्क की सीमा के बाहर ही रखें। संरक्षित क्षेत्र व राष्ट्रीय उद्यान सौंदर्य-बोध के भी क्षेत्र रहे। इस बात का भ्रम टूटने लगा। सन् 1986 में एक अंतरराष्ट्रीय सर्वे से ये परिणाम निकले।

- इन उद्यानों के प्रबंधन में स्थानीय लोगों को नहीं लेने से प्रबंध कमेटी को हमेशा इनका असहयोग ही मिलता है।
- संरक्षित क्षेत्र (अभयारण्य) के लाभ जब स्थानीय लोगों को बताए

गए तब उनका सहयोग मिलना आरंभ हुआ।

- सरक्षित क्षेत्रों की वन-संपदा से इन्हीं लोगों के लिए लघु उद्योग आरंभ किए गए, तभी इस क्षेत्र का संरक्षण सही ढंग से हुआ।

यह आवश्यक है कि स्थानीय लोगों को विश्वास में लेने के लिए उन्हें यहां की योजनाओं की प्रगति से बराबर अवगत कराया जाता रहे।

राष्ट्रीय उद्यानों से संबंधित तृतीय विश्व कांग्रेस का आयोजन किया इंडोनेशिया ने बाली में सन् 1982 में। वहां पर 10 मुद्दों पर चर्चा हुई।

- विश्व-भर के राष्ट्रीय उद्यानों की देख-रेख में असमानता है। आर्थिक परिस्थिति एवं राजनीतिक संदर्भों को देखते हुए अन्य उद्यान बचाने चाहिए।
- बहुत-से राष्ट्रों ने कुछ समुद्रों व समुद्री किनारों को संरक्षित क्षेत्र घोषित कर कार्य आरंभ किया, लेकिन ताजे पानी के जलाशयों एवं नदियों को भी संरक्षित क्षेत्र घोषित करने की आवश्यकता है।
- पारिस्थितिकी एवं प्रबंध-संबंधी नीतियों में और सुधार की आवश्यकता है।
- संरक्षित क्षेत्रों के संरक्षण एवं विकास के लिए, उनकी जरूरत के अनुसार, अलग-अलग समूह बनाए गए।
- किसी स्थल को संरक्षित घोषित कर देने मात्र से कार्य पूरा नहीं होता, जब तक इसे विकास की नीतियों से नहीं जोड़ा जाएगा।
- इस कार्य के लिए अच्छी तरह प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता है बीच-बीच में प्रशिक्षण-कार्यशाला एवं सेमिनार भी आयोजित किए जाने चाहिए जिनमें प्रकृति का वैज्ञानिक रूप से प्रबंध करना सिखाना चाहिए।
- इन क्षेत्रों के आय-व्यय का सही हिसाब होना चाहिए। बहुत-सी प्राइवेट कंपनियां व स्वयंसेवी संस्थाएं सहायता के लिए आगे आ रही हैं।
- इन क्षेत्रों पर कड़ी निगाह भी रखनी चाहिए कि यहां समाज व पर्यावरण की आवश्यकतानसार काम हो रहा है या नहीं।

- अतरराष्ट्रीय सहयोग का नेटवर्क औद्योगिक क्षेत्र मे कार्यशाला आयोजित करके किया जा सकता है। इसमे सरकार, क्षेत्र के प्रबंधकों तथा वैज्ञानिकों की भागीदारी हो।
- वर्ल्ड कंजरवेशन यूनियन की मदद से एक ग्लोबल कार्यक्रम चलाया जा सकता है।

वेनेजुएला में सन् 1992 को इस विषय की चौथी कांग्रेस हुई, जिसमें विशेषकर इसी बात पर जोर दिया गया कि सरकार इन क्षेत्रों व लोगों के रिश्ते के प्रति लापरवाह न हो। लोगो को केंद्र में रखकर योजनाएं बनाई जाएं। दूसरे, इन क्षेत्रो की जैविक विविधता को ठीक से पहचान की जाए, जिससे उनका संरक्षण हो सके।

अकसर प्रबंध-समिति व सरकार इन क्षेत्रों पर होने वाले व्यय का रोना रोती रहती हैं, लेकिन वे यह नहीं सोचतीं कि इन क्षेत्रों से कितनी आमदनी हो रही है या आमदनी की कितनी और संभावनाएं खोजी जा सकती हैं। इस कांग्रेस में विशेष रूप से महिलाओं व सेना की भूमिका के विषय में ध्यान दिलाया गया।

सन् 1986-1987 में विश्व-भर में 81 पार्क मैनेजरों को प्रशिक्षित किया गया था तब वे पार्क के पासवाले ग्रामीणों व आदिवासियों का सहयोग लेने में सफल रहे।

राष्ट्रीय उद्यानों तथा संरक्षित क्षेत्रों के लिए केराकस (वेनेजुएला) में सन् 1992 में होने वाली अंतरराष्ट्रीय चतुर्थ कांग्रेस में बहुत-से लोगों ने हिस्सा लिया। सौ राष्ट्रों से डेढ़ हजार विशेषज्ञ आए। बीसवीं सदी की यह अविस्मरणीय मीटिंग थी। यहां पर संरक्षित क्षेत्रों की परिभाषाएं विश्लेषित की गई। संरक्षित क्षेत्रों का विस्तार हुआ, जैसे—राष्ट्रीय पार्क, खेलकूदों के लिए संरक्षित क्षेत्र, विश्व विरासत क्षेत्र, (वर्ल्ड हेरिटेज साइट) समुद्री संरक्षित क्षेत्र, पर्वतीय संरक्षित क्षेत्र, लैंडस्केप संरक्षित क्षेत्र आदि।

इस दिशा में हुए विकास से पर्यटन में एक तेजी आई। विश्व के देशों में एक प्रतिस्पर्धा होने लगी कि कौन अपने-अपने संरक्षित क्षेत्र अधिक से अधिक आकर्षक बना सकता है। इन संरक्षित क्षेत्रों के आसपास के लोगों

को छोटे-मोटे रोजगार (जैसे कि चाय व खाने-पीने की चीजें बनाने के) भी मिलने लगे।

इस पर्यटन के रेले से पर्यावरणशास्त्री एक बार फिर हतप्रभ रह गए कि पर्यटन एक आशीर्वाद है या शाप, क्योंकि पर्यटन-स्थलों पर पेट्रोल से वातावरण को प्रदूषित करने वाले वाहन निरंतर आते-जाते रहते है। सीमाओं पर होने वाले छोटे-मोटे युद्ध कब संरक्षित क्षेत्रों की सीमा का ध्यान रखते हैं? इनसे मनुष्यों और वन्य जीवों को खतरा रहता है। इन आततायियों को विश्व विरासत क्षेत्र (वर्ल्ड हेरिटेज साइट) में भी तोड़-फोड़ करने में कोई हिचक नही होती।

इन क्षेत्रों के वार्डेन का कभी-कभी कत्ल भी हो जाता है, क्योंकि वे आसपास के लोगों को जानवर पकड़ने तथा उन्हें मारने से रोकते है। स्थानीय जातियों का गुस्सा भी इन पर निकलता है, क्योंकि उनकी पारंपरिक भूमि पर सरकार का कब्जा हो जाता है। एक महत्त्वपूर्ण और जबरदस्त खतरा किसानों से यह होता है कि वे इन क्षेत्रों में दबी-छिपी जगह पर कोको व मारिजुआना की खेती कर लेते है।

अभी पृथ्वी का सिर्फ 5 प्रतिशत हिस्सा संरक्षित है, जबकि अगले दशक में यह 10 प्रतिशत हो जाने वाला है। इस सदी के आरंभ से ही ऐसे क्षेत्रों को ढूंढ़ने का काम शुरू हो गया है जो जैविक विविधता से परिपूर्ण हैं व जिन्हें संरक्षण मिलना चाहिए।

इस विषय की पिछली कांग्रेस में उद्यान-प्रबंधक, रेंजर्स तथा वैज्ञानिक एवं वन-विशेषज्ञ मिले थे। केराकस में अर्थशास्त्रियों, पारिस्थितिकी-विशेषज्ञों, सरकारी उच्च अधिकारियों, जीवविज्ञान-विशेषज्ञों, वन्य जीवन के वैज्ञानिकों व अंतरराष्ट्रीय फंडिंग एजेंसी के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसका परिणाम है कि आज विश्व में लगभग 1,200 से अधिक राष्ट्रीय उद्यान हैं व 3,300 से अधिक अलग-अलग संरक्षित क्षेत्र हैं।

आज भारत की 4 प्रतिशत भूमि पर 69 राष्ट्रीय उद्यान हैं तथा 392 संरक्षित क्षेत्र या आश्रय-स्थल हैं। कई वर्षो की मेहनत से कुछ वनों की पारिस्थितिकी जो नष्ट हो रही थी तथा जानवर जो लुप्त होने की कगार पर

थे, वे बचा लिए गए हे। कश्मीर मे डाची गांव राष्ट्रीय उद्यान 'हंगुल' (कश्मीरी हिरण) का एकमात्र आश्रय-स्थल है। उनके लुप्त होने का मूल कारण खोजने के लिए डॉ जी एम ओझा को अंतरराष्ट्रीय संघ का मानपत्र मिला था। 'कस्तूरी मृग' भी इसी उद्यान में पाया जाता है।

1936 में स्थापित कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान देश का सबसे पुराना राष्ट्रीय उद्यान है जिसका नाम जिम कार्बेट नाम के शिकारी के नाम पर रखा गया था। इसमें बाघ, हाथी तथा हिरण की अनेक नस्लों व तेंदुआ को संरक्षण मिला है।

मध्य प्रदेश का कान्हा राष्ट्रीय उद्यान बाघ और बारहसिंगा के लिए प्रसिद्ध है। दुधवा राष्ट्रीय उद्यान बारहसिंगा, काले हिरण व बाघ के लिए प्रसिद्ध है।

असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान गैंडे, जंगली भैंस व अन्य जीवों की अनेक जातियों को आश्रय देता है।

भारत के दक्षिणी राज्यों में कर्नाटक राज्य के बांदीपुर राष्ट्रीय उद्यान के पास ही तमिलनाडु का मधुमलुई अभयारण्य, उत्तर में नगरहोल उद्यान और केरल में बाइनाड अभयारण्य है। इससे हाथियों के लिए सुरक्षित मार्ग और सबसे बड़ा आवास क्षेत्र (1,000 कि.मी. से अधिक) मिल जाता है। यहां जंगली सुअर, तेंदुआ, मिसरी, चीतल, रीछ और छोटी बिल्लियां तथा अन्य जानवर शामिल हैं। केरल में पेरियार वन्य जीवन अभयारण्य में हाथी, बाघ व अन्य प्राणी बहुतायत से पाए जाते हैं।

भरतपुर में केवलदेव घाना राष्ट्रीय उद्यान व गुजरात में नल सरोवर सुप्रसिद्ध जलपक्षी–आश्रय–स्थल है।

बाघ को आश्रय देता है बंगाल का 2,855 वर्ग कि.मी. में फैला सुंदरवन राष्ट्रीय उद्यान, तो 3,000 वर्ग कि.मी. से अधिक में फैला है।

राजस्थान का थार में रेगिस्तानी राष्ट्रीय उद्यान है। यहां रेगिस्तानी भेड़िए, रेगिस्तानी बिल्ली, रेगिस्तानी लोमड़ी व सोहन चिड़िया का संरक्षण किया गया है।

भूटान तक फैले असम के मानस राष्ट्रीय पार्क पर बोडो आदिवासियों

ने हमला करके वन विभाग के 12 व्यक्तियो को मार दिया था! उनको यही गुस्सा था कि उनकी जमीन उनसे छीन ली गई है।

जानवरो का सरक्षण कभी-कभी मनुष्य पर ही भारी पड़ने लगता है, गीर के जंगलो में भी शेर व चीतों की जनसंख्या, संरक्षण के बाद वहां के संरक्षण-क्षेत्र से अधिक हो गई है, इसलिए आए दिन वे गांववालों पर हमला करते रहते है।

सन् 1988 मे 20 लोगों की जान ले ली तथा 99 को घायल कर दिया था। सन् 1991 में 4 व्यक्तियो को मार डाला व 70 को घायल कर दिया। भारत सरकार इस बात को तो मानने लगी है कि शेरों का संरक्षण जरूरी है, लेकिन मानव-जीवन के मूल्य पर नहीं।

आज सब यही विश्वास करते हैं कि पर्यावरण को उद्यानों एवं संरक्षित क्षेत्रों के माध्यम से संरक्षित करने के रास्ते की समस्याओं का तभी हल हो सकता है जब नीतियां बनाने में स्थानीय लोगों का ध्यान रखा जाएगा। दूसरे, वे लोग राष्ट्र एवं मानवता के उत्थान के लिए अपना पैतृक स्थान छोडने को भी तैयार हो जाएंगे, यदि उनके पुनर्वास के लिए सरकार सही कदम उठाकर उन्हें संतुष्ट करेगी।

10

आदिवासी एवं ग्रामीण और पर्यावरण-संतुलन

फूड एंड एग्रीकल्चर ऑर्गनाइजेशन (एफ.ए.ओ.) के सहायक निर्देशक श्री मारकॉन फ्लोरस रोडास ने सन् 1982 की 'वर्ल्ड कांग्रेस' में कहा था : "विकासशील देशों के जो ग्रामीण लोग राष्ट्रीय उद्यानों एवं जंगलों के संरक्षित क्षेत्र के आसपास रहते हैं, जब तक हम उन्हें उत्तम भोजन, मकान व अच्छे स्तर की जीवन-शैली नहीं दे पाएंगे, तब तक हमारे देश में संरक्षित क्षेत्रों की योजना का कोई महत्त्व नहीं है।"

किसी भी देश के वनों के ऊंचे पेड़ अपने ऊपर से जा रहे मानसून के बादलों को उलझाकर, उन्हें बरसने पर मजबूर कर देते हैं। इसी वर्षा पर निर्भर होती है उस देश के अनाज-सब्जी की पैदावार। इन्हीं जंगलों में घर बसाए होते हैं अशिक्षित आदिवासियों एवं ग्रामीणों ने।

जंगल के प्रति इन लोगों के रवैये का अलग-अलग चार स्वतंत्र मुद्दों द्वारा अध्ययन किया जा सकता है। वे हैं आर्थिक एवं ऊर्जा, संस्कृति तथा पर्यावरण-संबंधी। पहले तीन आपस में इतने घुले-मिले हैं कि पर्यावरण पर सीधे प्रभाव डालते हैं और जब पर्यावरण प्रभावित होता है तो पूरे देश का विकास, मौसम व लोगों का स्वास्थ्य— सभी कुछ प्रभावित होता है।

जंगलों पर ही हमारा जीवन निर्भर है जिनमें ये आदिवासी रहते हैं! तो क्यों न ऐसा रास्ता ढूंढ़ा जाए कि जंगल और आदिवासी-संबंधी सरकारी नीतियों में कुछ सुधार हो व इन सबका आपस में पर्यावरण से एक संतुलित रिश्ता कायम हो। इसी ज्वलंत प्रश्न को हल करने के लिए महाराजा सयाजी विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग की प्राध्यापिका डॉ. त्विशा पंड्या ने

इनसोना (इंटरनेशनल सोसायटी फार नेचुरलिस्ट) के संस्थापक डॉ. जी.एम. ओझा के निर्देशन में इसी विषय पर शोध किया। उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया तीन तालुका—जंबूघोड़ा, हालोल व संखेड़ा को। वे कहती हैं : ''भारत की 90 करोड़ आबादी में से दो तिहाई आबादी की जरूरतें कृषि से पूरी होती हैं। प्रतिवर्ष 150 टन का ईंधन जंगल से इकट्ठा किया जाता है तथा पशु लगभग 5 करोड़ टन चारा खाते हैं। जाहिर है, लोगों की ये जरूरतें वनस्पति एवं जानवरों से भी पूरी होती है। भारत के 35 से 40 प्रतिशत लोग सिर्फ इतना कमा पाते हैं कि वे जैसे-तैसे अपना पेट भर सके। जीवन की अन्य जरूरतों के लिए उनके पास पैसा ही नहीं होता, इसलिए वे जंगलों से अपनी जरूरतें पूरी करते हैं। हमारी पृथ्वी जैविक विविधता से परिपूर्ण है। यदि हम इसे बचाना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें आदिवासियों के उत्थान के विषय में सोचना होगा।''

डॉ पड्या के शोध-बिंदु थे— आदिवासियों की जनसंख्या में तीन दशक में बढ़ोतरी, उनकी शिक्षा, खेती-बाड़ी व सिंचाई-संबंधी उनकी जानकारी, प्राकृतिक संपदा में से भोजन, इकाई-संबंधी खोजबीन, उनकी आय। उन्हें जंबूघोड़ा राजकीय परिवार से इनके बारे में प्राचीन जानकारी मिली और उन्होंने इनके अलग-अलग रीति-रिवाजों तथा सांस्कृतिक रीति-रिवाजों का भी अध्ययन किया। वे कारण ढूंढ़े, जिनके अंतर्गत उन्हें जंगल छोड़कर आसपास के शहरों में बसना पड़ा।

यदि जंबूघोड़ा का ही उदाहरण लिया जाए तो पता लगेगा कि यहां की सैंक्चुरी की सीमा से लगे हुए बहुत से गांव हैं जिनमें तीस से पचास परिवार रहते हैं। इनकी झोपड़ियां पहाड़ों पर फैली हुई हैं। ये लोग खेती भी पहाड़ों पर करते हैं, जिनकी सीमाएं एक विशेष प्रकार के वृक्षों को उगाकर घोषित की जाती हैं। पानी की आपूर्ति ये कुओं और हैंडपंप से करते हैं। ये अपनी झोपड़ियां लकड़ी, मिट्टी व गोबर से बनाते हैं। जाहिर है, इनमें लगी लकड़ी वे जंगल से चुराते हैं। इन झोपड़ियों में दो-तीन कमरे तो बनाते ही हैं, जिन परिवारों के लड़के शहर में रह आते हैं उन घरों में लकड़ी से खिड़कियां व दरवाजे भी बनाए जाते हैं। अनाज की खेती करने

वाले इन गावों में बिजली शत-प्रतिशत पहुंच गई है।

अकसर ये आदिवासी वन-संरक्षित क्षेत्र में लकड़ी नहीं काटते, बल्कि बाजार से लकड़ी खरीदते हैं। मजे की बात यह है कि यह बाजार की लकड़ी भी जंगल से चुराई हुई होती है! इस चोरी में वन विभाग के कर्मचारी भी शामिल होते हैं।

जंगल में महुए के फूलों या पाम की ताड़ी की शराब भट्ठी में बनाई जाती है। शराब की भट्ठियों में जलाने के लिए भी लकड़ियां चाहिए। शराब की लत का प्रभाव जंगल पर तो पडता ही है, इसके कारण आदिवासियों के परिवारो को भी घोर गरीबी झेलनी होती है। कभी-कभी ये भट्ठियां ही जंगल की आग का कारण बनती हैं।

कभी-कभी किसी आदिवासी की फेंकी हुई बीडी भी जंगल की आग का कारण बनती है। इनका वन विभाग से दो ही बातों को लेकर अधिक झगडा होता है—एक तो लकडी की चोरी पर; दूसरे, संरक्षित क्षेत्र में पशुओं को चराने के लिए कुछ आदिवासी जंगल की खदानों मे चोरी किए बिना नहीं रहते।

ये संरक्षित क्षेत्र तो विद्यार्थियों के लिए एक विलक्षण प्रयोगशाला हैं। वे यहां आकर जीवविज्ञान, पर्यावरण, भूगर्भविज्ञान समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र का अध्ययन कर सकते हैं। साथ ही विद्यार्थी यहां आकर स्थानीय लोगों को कुछ काम की बातें भी सिखा सकते हैं। सरकार को चाहिए कि इस बिगड़ते हुए पर्यावरण के संतुलन के दौर में जल्दी-जल्दी राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व स्थानीय स्तर पर ऐसे कार्यक्रम आयोजित करे, जिससे आदिवासियों को समझाया जा सके कि आज यदि वे पर्यावरण संरक्षिण में रुचि लेते हैं तो उससे वे और उनकी आने वाली पीढ़ियां भी लाभान्वित होंगी साथ ही उनकी जातियां भी सशक्त होती जाएंगी।

वन-संरक्षण का काम सीधे ही जैविक विविधता से जुड़ा है। वन में पौधों और पशुओं की अनेक जातियां-प्रजातियां होती हैं। वन को संरक्षित करने का मतलब है—उन्हें संरक्षित करना। ट्रॉपिकल फारेस्ट, द्वितीय श्रेणी के जंगलों और यहां की उपजाऊ जमीन के संरक्षण का प्रबंध करना इतना

आसान नहीं है।

संरक्षित वन, स्कूल व महाविद्यालय के छात्रो के लिए एक खुली किताब का काम कर सकते हैं। सन् 1993 में राष्ट्रीय उद्यानों व संरक्षित क्षेत्रों पर आयोजित हुई वर्ल्ड कांग्रेस में वैज्ञानिक मैकनीली ने निम्न 10 नियम प्रस्तावित किए थे, जिन्हें आदिवासियो को समझाना आसान है :

- सबसे पहला नियम तो यह है कि ये नियम आदिवासी संस्कृति को देखकर बनाए जाएं।
- स्थानीय लोगों को ही जिम्मेदारी सौंपी जाए।
- स्थानीय लोगो से ही काम लेकर उन्हें उचित पारिश्रमिक दिया जाए।
- सरकारी विकास योजनाएं पी.ए.एस. (संरक्षित क्षेत्र) से सीधी जोडी जाएं।
- स्थानीय विकास की छोटी-छोटी योजनाओं को पहले महत्त्व दिया जाए।
- प्रबंध-समिति मे स्थानीय लोगों को भी लिया जाए।
- लघु बचत की ऐसी योजनाएं बनाई जाएं जहां से ये आदिवासी ऋण ले सकें।
- नियमों का पालन करवाने की सरकारी कर्मचारियों में हिम्मत होनी चाहिए।
- उभरती हुई नई राष्ट्रीय संस्कृति का भी संरक्षण करना चाहिए।
- हर क्षेत्र की विविधता को एक अच्छी प्राकृतिक धरोहर के रूप में प्रोत्साहित करना चाहिए।

भारत सरकार ने एक जून 1990 में एक सर्कुलर निकाला था कि सभी प्रादेशिक सरकारों को एक सम्मिलित वन-प्रबंध-समिति बनानी चाहिए। पंद्रह प्रदेशों ने तुरंत ही इसे संगठित करने के आदेश दे दिए। यदि जंबूघोड़ा का ही उदाहरण लें तो फॉरेस्ट आफिसर, 4 स्थानीय लोगों व 8 गार्डों तथा 12-15 वॉचमैनों की सहायता से यहां पर वन को संरक्षण देने का काम कर रहे हैं।

जे एफ एम. (ज्वाइंट फॉरेस्ट मैनेजमेंट) अर्थात् संयुक्त वन-प्रबध न को संचालित करने के लिए हमें संरक्षण के प्रति सचेत व जिम्मेदार ट आफिसर चाहिए जो कि सब तरह से प्रवीण हो। वह जीवविज्ञान नानकार हो, रिसोर्ट मैनेजर हो, उसकी प्रशासन-क्षमता अच्छी हो तथा प्रबध के कार्य को अपनी बुद्धि से स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ार दे सके। जैविक विविधता एव पारिस्थितिकी (इकोलॉजी) को ात करने के लिए ये सुझाव हैं :

हमें यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि पेड़-पौधों व पशुओं की नस्लें अपने वर्तमान रूप में ही सरक्षित रहें।

मनुष्यों की गतिविधियां वहीं तक सीमित रहें, जहां तक जैविक विविधता को नुकसान न पहुंचे।

पहाड़ियों की तराइयों को भविष्य की आर्थिक शोषण करने वाली योजनाओं के लिए उपयोग में नहीं लाना चाहिए।

कुछ जंगल बेजोड़ हैं जिनकी संख्या नगण्य है। उनके संरक्षण को प्राथमिकता देनी चाहिए।

एक्जोटिक स्पीशीज (आयातित स्पीशीज) के पेड़ नहीं लगाने चाहिए जैसे यूक्लिप्ट्स।

वनों में औषधियुक्त पौधे अधिक से अधिक लगाने चाहिए।

वन के क्षेत्रों को पारिस्थितिकी-सिद्धांतों के अनुसार प्रयोग करना चाहिए।

वनों के उपजाऊ क्षेत्र में लोगों को आवास बनाने की अथवा पशुओं को चराने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

ऐसे क्षेत्रों में पशुओं को चराने वाले लोगों को दंडित करना चाहिए।

एक ही जगह पर बहुत-से लोगों को बसने से रोकना चाहिए।

इन प्रस्तावों के आधार पर सरकार को जंगल के प्रबंध में आदिवासियों, नीय पंचायतों, स्वयंसेवी संस्थाओं व पी.ए. के लोगों को शामिल करना हए, जिससे ये लोग उन्हें प्रकृति द्वारा दी गई संपदा के महत्त्व को

समझकर उसे संभालना सीखें। साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इनकी सांस्कृतिक विरासत व परंपरागत जीवन-शैली को क्षति न पहुंचे।

किसी वर्ष मौसम साथ नहीं देता तब आदिवासियों की आय, जो कि खेती से जुड़ी है, बंद हो जाती है। ऐसी स्थिति में सरकार का फर्ज है कि वह उनके लिए ऐसे रोजगार जुटाए जिससे वह जंगल में चोरी न करें। यदि उनकी पेयजल की समस्या तथा उनकी व उनके मवेशियों के भोजन व इलाज की समस्या हल हो जाएगी तो जंगल अपने-आप ही सुरक्षित हो जाएंगे।

ये अपनी आय कहां सुरक्षित रखें? बच्चों को कहां पढ़ाएं? इन क्षेत्रों में बैंकों व स्कूलों की आवश्यकता है।

डॉ. त्विशा पंड्या ने जो सुझाव अपने शोध में दिए थे उन्हें मध्य प्रदेश के बिलासपुर वनवृत्त में संयुक्त वन-प्रबंध (ज्वाइंट फॉरेस्ट मैनेजमेंट-जे.एफ.एम.) चलाकर एक सफल मॉडल के रूप में प्रस्तुत भी कर दिया है। यहां के वन विभाग के कंजरवेटर डॉ. जितेंद्र कुमार उपाध्याय बताते हैं : "इस वनवृत्त में आर्थिक विकास की गतिविधियां 1996 में आरंभ हुई। हम लोगों के पहले तीन महीने कुछ योजनाओं की रूपरेखा बनाते हुए निकलीं। हम लोगों ने वन के आसपास के गांवों की कुछ कमेटियां बनाई और इन्हें अर्जुन वृक्ष (टर्मिनेलिमा) के वृक्षारोपण का काम सौंपा गया। साजा वृक्ष तो प्राकृतिक रूप से इन वन की देन हैं। वे भी इन्हें सौंप दिए गए। आरंभिक काल में जुलाई की फसल के लिए सिर्फ 11 कमेटियों ने इस कार्यक्रम में हिस्सा लिया, लेकिन सितंबर की फसल के लिए 16 कमेटियां और आगे आईं। इन पेड़ों से लगभग एक लाख उन्यासी हजार (1,79,000) रुपयों का फायदा हुआ। बाद में इस योजना से और भी लोग जुडे। इन सबको अच्छी तरह प्रशिक्षित किया गया, जिससे 8,000 रुपया प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति की आय होने लगी।"

वृक्षारोपण के अलावा वन-क्षेत्रों में और भी रोजगार मुहैया करवाए जा सकते हैं। सन् 1950 व 1960 के बीच यहां लाख का उत्पादन चरम पर था, किंतु बाद में इसकी खपत कम होती गई। यहां लाख-उत्पादन का

काम परपरागत तरीको से न करके कलकत्ते की शेलेक एक्सपोर्ट कौंसिल की सहायता से आरंभ किया गया। उसी ने एक लाख रुपये के बीज भी वितरित किए। 122 कमेटियों ने इसमें रुचि ली। 20.52 लाख रुपयों की आय से आकर्षित होकर अन्य 24 कमेटियों ने इस योजना में भाग लिया। फिर तो उत्साहित होकर वनों में ऐसे और भी स्थानों की खोज की गई जहां लाख-उत्पादन किया जा सकता था।

बिलासपुर व रायगढ़ जिलों के आसपास के वनों में बांसोड़ परिवार बसते हैं जो कि बांस से अनेक वस्तुएं बनाते हैं, लेकिन बांस काटने पर प्रतिबंध लगने से ये परिवार भूखे मरने लगे, इस कारण ये वनों से बांसों को चोरी से काटकर ले जाने लगे। इसलिए यहां यह निश्चय किया गया कि यहां 'बांसोड़, कल्याण केंद्र' खोले जाएं। इन केंद्रों पर सरकार की निस्तार नीति के अंतर्गत बांस दिए जाने लगे। यहां पर ये परिवार बांस के टोकरे, कुछ हस्तकला की वस्तुएं व अगरबत्ती की डंडियां बनाते हैं। एक वर्ष में ही इन्हें अपनी बनाई चीजों से 50 प्रतिशत अधिक मुनाफा मिलने लगा। अगरबत्ती की डंडियां तो यहां खराब हो गए बांसों से ही बन जाती हैं। एक तो इससे सूखे बांसों से आग लगने का खतरा टल जाता है, दूसरे बांसोड़ परिवार रोजगार मिलने पर स्वयं ही बांसों की रक्षा व देखभाल करते हैं।

- सरकार की आर्थिक वृक्षारोपण स्कीम के अंतर्गत इस क्षेत्र में वृक्षारोपण का काम बहुत किया गया। सीसल (अगेवसिसलाना) की लकड़ी से सुंदर कलात्मक वस्तुएं बनाकर इस क्षेत्र के आदिवासियों ने अपनी आय बढ़ाई।
- 41 कमेटियों के लिए यहां मछली-पालन का काम आरंभ किया गया। इसके लिए तालाबों को और भी गहरा करना पड़ा जिससे अधिक मछली तो पाली ही गई, आसपास के खेतों की सिंचाई भी सुचारु रूप से होने लगी। बिलासपुर के डिवीजनल कमिश्नर इस काम से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने मछली-पालन विभाग को निर्देश दिए कि वह इस काम को आगे विस्तार दे। अब लगभग पांच-छः

सौ कमेटियां यही काम कर रही हैं।

भूमिहीन किसानों की पत्नियों को काम देने के लिए महिला पौधशालाएं खोली गईं। आरंभ में जिनकी संख्या 82 थीं, जिनमें 80 कमेटियों की स्त्रियां काम करने आती थीं। इस तरह से अपने घर के काम के बाद बचे समय में इन स्त्रियों ने यहां काम किया तो उन्हें चार-पांच हजार रुपया वार्षिक आय होने लगी।

सवाई (यूलेलियोप्सिस बिनाटा) से बनी रस्सी बांसों को बांधने के काम आती है, जो ठेकेदारों से खरीदी जाती थी। इस क्षेत्र की दो कमेटियों को काम सौंपा गया तो उन्होंने 4.50 रुपये प्रति किलो के हिसाब से वन विभाग को रस्सी देनी आरंभ कर दी, जबकि ठेकेदार 11 रुपये प्रति किलो के हिसाब से देता था। बाद में वन विभाग ने इस कमेटी से रस्सी खरीदने का मूल्य 7 रुपये प्रति किलो निश्चित किया।

तीन कमेटियों ने फूलवाडी बनाने का व्यवसाय आरंभ किया।

छिंद घास से चटाई बनाने का काम छः कमेटियों ने आरंभ किया।

साल वृक्ष से दोने-पत्तल बनाए जाते हैं। वन विभाग के निर्देशन में सुव्यस्थित रूप से इन्हें बनाने का काम आरंभ हुआ। इसके लिए 32 कमेटियां बनाई गईं।

इन क्षेत्रों में सिंचाई व्यवस्था को प्राथमिकता दी जाती है; इसी कारण मशरूम व सब्जियां उगाने का काम भी सुव्यवस्थित रूप से होने लगा है।

यहां अधसूखे व सूखे पत्तों को जमीन में गाड़कर खाद भी बनाई जाने लगी, जिससे दावानल (जंगल की आग) लगने का डर समाप्त हो गया।

वन विभाग की सामाजिक सुरक्षा योजना के अंतर्गत इस वनवृत्त में अनाज बैंक खोला गया, क्योंकि साधारण परिवारों के लिए अनाज खरीदना भी एक बहुत बड़ी बात है—खेती के लिए बीज भी वे मुश्किल से खरीद पाते हैं। अनाज व बीजों का यहां उचित मूल्यों पर विक्रय किया जाने लगा।

अब रही बात रुपया सुरक्षित करने की तो यहां 'स्वयंसहायक दल' बनाए गए जिन्होंने 78,000 रुपये इकट्ठा किए। जरूरत के समय इन्हें कर्ज मिल सकता है।

डॉ जितेंद्र बताते है : "इन लघु उद्योगों ने इस क्षेत्र की गरीबी कम की है साथ ही हमारे वन विभाग की समस्याएं भी कम हुई है। हम लोगों ने शिक्षण-कार्यक्रम के अंतर्गत पर्यावरण का महत्त्व बताया था। इन क्षेत्रो मे हरे, कच्चे बांस की सब्जी व अचार खाए जाते हैं, जिन्हें यहां करील कहा जाता है। आप जानकर आश्चर्य करेंगे कि जब कुछ ग्रामीण करील घर ले गए तो उन ग्रामीण महिलाओं ने पर्यावरण का ध्यान रखते हुए उसे पकाने से इनकार कर दिया।"

पर्यावरण से रोजगार जुटाने की योजना ग्रामीण महिलाओं तक पहुंची। चेतना का एक उदाहरण— दस वर्ष पूर्व अलवर (राजस्थान) के गाव झोंकरिया में मात्र 11 महिलाओं ने गांव की पास की जमीन पर स्वयं ग खोदकर व पानी लाकर पेड़ लगाए थे। आज वहां 10,000 की संख्या में झूमते वृक्ष पर्यावरण स्वच्छ कर रहे हैं। इन महिलाओं की मेहनत पर अब पूरे गांव की नजर है, इसलिए लोग रात में बारी-बारी से वहां पहरा देते है।

11

मनुष्य—इक्कीसवीं सदी एवं पर्यावरण

जो पर्यावरण-जागरूकता बीसवीं सदी की उतराई में आरंभ हुई थी वह लगभग पचास वर्ष पग-पग चलती आज इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खडी दस्तक दे रही है—एक नई चेतना के साथ, अदम्य उत्साह के साथ। यह उत्साह इसलिए है कि पर्यावरण-संरक्षण की उपलब्धियों से उसकी झोली भरी हुई है। अंतरराष्ट्रीय शोध-संगठन ने इस समस्या को समझने की उसे एक परिपक्व अंर्तदृष्टि दी है।

आज 'भूमंडलीकरण' (ग्लोबलाइजेशन) शब्द मनुष्य से इतना जुड गया है कि मनुष्य व पर्यावरण को इक्कीसवीं सदी से जोड़ते हुए बात अंतरराष्ट्रीय स्तर से ही आरंभ की जाए। इस स्तर पर पर्यावरण-संरक्षण के लिए ये उपाय किए जा सकते हैं :

- आपसी समझ का एक अनुबंध बनाया जाए।
- बीसवीं सदी में पर्यावरण-संरक्षण करने में जाने-अनजाने जो गलतियां हुई हैं, उन्हें तुरंत ही सुधारा जाए।
- इन सब कार्यों को करने के लिए अच्छी प्रबंध-समितियां बनाई जाएं।
- एक कमेटी इस बात की हो जो पर्यावरण-संरक्षण के आर्थिक व वैज्ञानिक साधनों की खोज करे।

सिर्फ अनुबंधों व सेमिनारों से कुछ नहीं होने वाला, जब तक कि इन चार मुद्दों पर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर काम नहीं होता। इस काम का हर राष्ट्र दिल व दिमाग से उत्तरदायित्व लेकर उसे अंतरराष्ट्रीय स्तर तक जोड़े। प्रत्येक देश एवं राष्ट्रीय संस्थान अंतरराष्ट्रीय इमारत की एक-एक ईट

ार काम करे।

विकासशील देशों के राष्ट्रीय संस्थानों को इस तरह विकसित किया चाहिए :

विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्रों की राष्ट्रीय क्षमता का राष्ट्रीय विकास के लिए उपयोग किया जा सके व नई खोज एवं ज्ञान का तुरंत रिकार्ड बन सके। इसे तुरंत ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वितरित किया जा सके।

प्रत्येक राष्ट्र के सामाजिक व राजनीतिक सोच में बदलाव की आवश्यकता है। विकास के लिए निर्णय सबको समान समझते हुए निष्पक्ष होने चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा के विशेष कार्यक्रम बनाए जाएं, जिनमें पर्यावरण-संरक्षण तथा इसके लिए नीतियां बनाने की शिक्षा दी जाए। आम जनता को यह समझाया जाए कि पर्यावरण-संरक्षण उनकी सहभागिता के बिना संभव नहीं है।

इस सदी की सबसे बडी समस्या है—पेयजल। पूरे विश्व को इस ्या को हल करने के लिए दो महत्त्वपूर्ण शोध करने होंगे :

अल्पखर्च वाली तकनीक, जो समुद्री पानी का खारापन मिटाकर उसे पेयजल में बदल सके।

अल्पखर्च वाली तकनीक, जो कि पृथ्वी के गर्भ में गहराई में छिपे पानी को ढूंढ़ सके।

मिस्र के काहिरा विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग के प्रोफेसर एम. स के अनुसार : "इक्कीसवीं सदी की सबसे बड़ी समस्याओं मे से समस्या होगी महानगरों को प्रदूषण-रहित बनाना, क्योंकि इनके प्रदूषण देखते हुए इन्हें 'मानव ज्वालामुखी' या 'ऊष्मा का टापू' कहा जाने है। इस सदी में इन्हें प्रदूषण-रहित करने के रास्ते खोजे जाएंगे। बाकी ्याओं—जैसे गरीबी, बढ़ती हुई जनसंख्या, भूख व प्राकृतिक अपदाओ ो तो इस सदी में लड़ना होगा।"

वैज्ञानिक होलगेट ने तो सन् 1991 में ही कह दिया था : "इन

समस्याओं का हल विज्ञान व तकनीक से नहीं, बल्कि राजनीति से ही हो सकता है।"

अर्थात् राजनीतिज्ञ लोग ही सरकार बनाते है जो विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र के लोगों की सलाह से नीतियां बनाते हैं। अब यह अतिम रूप से तो उन पर ही निर्भर होता है कि वह कितनी सलाह मानें।

श्री एम.एस. स्वामीनाथन के अनुसार : "विश्व में अब तक 5 अतरराष्ट्रीय कृषि-शोध-संस्थान खोले जा चुके हैं। इक्कीसवी सदी में 16 ऐसे संस्थान खोलने का लक्ष्य है।"

इक्कीसवीं सदी के लिए मनुष्य को जीवित रहना है तो इस युग मे दो बातें मुख्य होनी चाहिए—मनुष्य को सोचने की आधुनिक दृष्टि को पारंपरिक दृष्टि में बदल देना चाहिए; या कहा जा सकता है कि उपभोक्ता-संस्कृति की तरफ तेजी से भागता मानव अपनी जड़ों में शांति खोजे व प्राप्त करे तो उत्तम है। बीसवीं सदी में धनलिप्सा चरम की तरफ बढती गई। जैसे-जैसे इक्कीसवीं सदी के वर्ष बीतते जाएंगे, मनुष्य के लिए मानवीयता, पैसा एवं प्रकृति, जीवन का मिला-जुला रूप होंगे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह होनी चाहिए लगभग हर देश व प्रदेश में मनुष्य के हृदय में बसी मानवीयता को केंद्र बनाकर ऐसे संस्थान खोले जाएं जहां सीखा जा सके कि किस तरह से जनतंत्र में सब एक ही स्तर पर अपने उत्तरदायित्व पूरे करते हुए जी सकें।

इक्कीसवीं सदी की सरकारें भी आधुनिक दृष्टिकोण से काम करेंगी। वह सरकारी अफसरशाही से हटकर अन्य लोगों से सहयोग व सलाह से चलाई जाएंगी, जिससे जनतंत्रवाद में लोगों की समस्याएं उभरकर आ सकें व उनके हल ढूंढ़े जा सकें। तभी सब लोग आशावान हैं कि इक्कीसवीं सदी की सरकारें पर्यावरण की परिस्थिति के अनुसार काम करेंगी।

अमेरिका के इंडियाना विश्वविद्यालय के लॉयंटन कैथ कॉल्डवौल के अनुसार : "गणतंत्रवादी सरकारें, स्वयंसेवी संस्थाओं तथा नॉन-गवर्नमेंट आरगनाइजेशनों (एन.जी.ओ.) के सहयोग से उन्नति करेंगी व चलाई जाएंगी। पर्यावरण के लिए काम करने वाली संस्थाएं जनता में सरकार के

सहयोग से कार्यक्रम आयोजित कर उसे जागरूक बनाएंगी।''

स्वयंसेवी संस्थाओं का गठन या कार्य कोई नई चीज नहीं है, लेकिन इक्कीसवी सदी में यह बात नई होगी कि नीतियां बनाने में सरकार इनकी मदद लेगी— विशेषकर पर्यावरण-संरक्षण-संबधी राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय नीतियां बनाने में। सन् 1992 को इसी विषय के एक सम्मेलन में 2000 स्वयसेवी संस्थाओं के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इनमें भारत की 'इनसोना' भी थी।

इस सदी की उपलब्धि होगी स्थान-स्थान पर सलाहकारी कौंसिल का गठन, जिसमें विशिष्ट नागरिकों को सदस्यता दी जाएगी। ये तीन महत्वपूर्ण मुद्दों पर अपनी राय देंगे— सामाजिक, आर्थिक तथा पर्यावरण-सबधी। कुछ देशों में विशिष्ट वैज्ञानिकों द्वारा राष्ट्रीय शोध-परिषद् बनाई जाएगी जो कि सरकार को समय-समय पर पर्यावरण-संबंधी सूचना देती रहेगी व मार्ग-दर्शन करेगी कि सरकार को कौन-से वैज्ञानिक तौर-तरीके अपनाने चाहिए। इतना होने के बावजूद ये सरकारी एजेंट नहीं होंगे, वरन ये सरकारी नियम बनाने वाले होंगे।

चीजों के उत्पादन का, कृषि, खनिज व तेल के स्रोत ढूंढने का, यातायात का, व्यापार व मीडिया का निश्चय ही शहरी, ग्रामीण व प्राकृतिक पर्यावरण पर प्रभाव पडेगा। जहां पर यह प्रभाव गंभीर होगा वहां इसे राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नियंत्रित किया जाएगा। ये सभी कुछ नए कानून के अंतर्गत होगा।

ब्रिटेन में ग्राउंडवर्क फाउंडेशन है जो कि सन् 1982 से वहां काम कर रहा है। उसका अपना नेटवर्क 'व्हेल्स' उत्तरी आयरलैंड तक फैला हुआ है। वह व्यापारियों, एन.जी.ओ. व सरकार के लिए काम करता है। इसके 44 ट्रस्ट हैं जिन्हें सरकार व लोगों से आर्थिक मदद मिलती है। इसके पर्यावरण-संबंधी कार्य इतने लोकप्रिय हुए हैं कि अब यह जापान, फ्रांस, बेलजियम व ब्राजील के लिए भी काम कर रहा है। अमेरिका की 'एनवायरमेंट प्रोटेक्शन एजेंसी' व भारत में डॉ. जी.एम. ओझा द्वारा स्थापित इनसोना संस्था इसी तरह काम कर रही हैं। ऐसे संस्थानों को 'पार्टनर्स आफ

द एनवायरमेंट' कहा जाता है। ऐसे संस्थानों की स्थापना व लोकप्रियता इक्कीसवीं सदी मे पृथ्वी के जीवमंडल को सुरक्षित रखने में सक्षम होगी।

इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य होगा सूचना प्रौद्योगिकी का विकास। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से कोई भी सूचना एवं शोध तथा पर्यावरण-संरक्षण के नए उपाय विश्व के एक कोने से दूसरे कोने में कुछ ही सेकंड मे पहुंच सकेंगे।

अंतरराष्ट्रीय व राष्ट्रीय पर्यावरण-संरक्षण के प्रयासों के बाद बात कुछ ऐसे व्यक्तियों की जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार पर्यावरण के किसी एक पक्ष का संरक्षण कर रहे हैं। जॉनी बॉयोस्फेयर सहित विश्व के अनेक व्यक्तिगत प्रयासों की चर्चा पहले ही हो चुकी है। भारत की मेनका गांधी इस क्षेत्र में महिलाओं के काम करने के लिए आदर्श है।

मैं अपने शहर बडोदरा की तीन महिलाओं के नाम इनमें जोडना चाहूंगी। उनमें से प्रथम हैं—मीना अमीन। लोग शानदार देशी व विदेशी कुत्ते पालते हैं, लेकिन मीना ने पशुसेवा-केंद्र खोला है, जिसमें वह वृद्ध व बीमार कुत्तों की देखभाल करती हैं। इन्हें लोग 'कुत्तेवाली आंटी' के नाम से पुकारते हैं।

दूसरी हैं—स्नेह भट्ट, जो सांपों की सुरक्षा के लिए काम कर रही हैं। किसी के घर भी सांप निकल आए तो ये उसे वहां से निकालकर ले जाती हैं। इस तरह पकड़े हुए सांपों को ये महीने में एक बार अपनी गाड़ी में भरकर अपने साथियों के साथ शहर के बाहर छोड़ आती हैं। इनकी संस्था का नाम है—'गुजरात सोसायटी फॉर प्रीवेंशन आफ क्रुएलिटी टू एनीमल' (जी.एस.पी.सी.ए.)। स्नेह की लगन व समर्पण को देखकर वन एवं पर्यावरण विभाग (गुजरात) ने उन्हें 'वाइल्ड लाइफ वार्डन' के लिए नामांकित किया है।

नंदिता अमीन वैसे तो आर्टिटेक्ट हैं किंतु इनकी संस्था 'वी केअर' ने भी पशुओं के संरक्षण का काम हाथ में लिया है। इनके प्रयास से एक पशु-चिकित्सालय भी खोल दिया गया है।

जाहिर है, इक्कीसवीं सदी में ऐसे बहुत-से लोग आगे आएंगे।

एक आम व्यक्ति यदि कुछ और न कर पाए तो ऐसे संकटग्रस्त प्राणियों की खाल से बनी चीजें, जैसे—कोट, बैग, बेल्ट, जूते, हाथीदांत, कछुए के खोल, कस्तूरी, सींग, शेर या चीते की खाल से अपने ड्राइंगरूम की सजावट का काम तो बंद कर ही सकता है। इन बातों की चेतना इस सदी में बढ़ने वाली है।

दुनिया में सबसे बेदर्दी से उपयोग में आने वाला पदार्थ है जल, जबकि इसकी कमी बीसवीं सदी में ही महसूस की जा रही थी। पशु-संरक्षण के आंदोलन के कारण देशी ही नहीं, कितने ही विदेशी भी निरामिष भोजन त्याग चुके हैं। इस सदी में और लोग भी यही प्रण लेंगे।

जो बच्चे सहस्राब्दी वर्ष (मिलेनियम ईयर) में आंखें खोलेंगे उनके जीवन का तो पर्यावरण-संरक्षण अविभाज्य अंग होगा। क्योंकि इन्हें औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा दी जा रही होगी। संचार-माध्यम, जैसे—अखबार, पत्रिकाएं, रेडियो व दूरदर्शन तथा इंटरनेट—के माध्यम से लोग स्वयं ही इसके प्रति जिम्मेदारी महसूस करने लगेंगे। इक्कीसवीं सदी के लोग प्रकृति के प्रति स्नेह, श्रद्धा और प्रशंसा की भावना से अधिक ओत-प्रोत होंगे। जब किसी वस्तु के प्रति ये तीनों भावनाएं होती हैं तो यही अपनापन स्वत: उसके संरक्षण की जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न कर देत है।

संदर्भ

1. **एनवायरमेंटल एवेयरनेस** (इनसोना की वैज्ञानिक पत्रिका के अनेक अक)
   सपादक : डॉ जी एम. ओझा
   प्रबधक सपादक : श्रीमती प्रेमलता ओझा
2. **भारत के संकटग्रस्त वन्यप्राणी और उनका संरक्षण**
   लेखक : एस.एम. नायर
   अग्रेजी से हिंदी में अनुवाद : श्री हरीचरण अग्रवाल
3 **वस्ती अने पर्यावरण** (गुजराती)
   लेखक : डॉ. जी.एम ओझा
4. **इकोनोमिक बोटनी इन ट्रापिक्स**
   लेखक : डॉ. एस.एल. कोचर
5 **इंडियन फॉरेस्टर** में प्रकाशित शोध
   लेखक : डॉ. जितेन्द्र कुमार उपाध्याय
   कजरवेटर : बिलासपुर वनवृत्त
6. **बॉयोरीजन कॉमन प्रापर्टी, रिसोर्स मैनेजमेंट स्टडीज**
   लेखकद्वय : डॉ त्विशा पंड्या
   डॉ जी एम ओझा।
7 **शोधपत्र :**
   (i) डॉ वी वी मोदी, वडोदरा, एम एस. यूनीवर्सिटी
   (ii) डॉ अरुण आर्य, वडोदरा, एम एस यूनीवर्सिटी
   (iii) डॉ. एम. डेनियल, वडोदरा, एम एस यूनीवर्सिटी
   (iv) डॉ जयंती सेन, कलकत्ता